राष्ट्रीय रजत मुनि दीक्षा महोत्सव

25

परम पूज्य गणाचार्य श्री १०८
विराग सागर जी महाराज

# संत साधना के प्रेरक प्रसंग

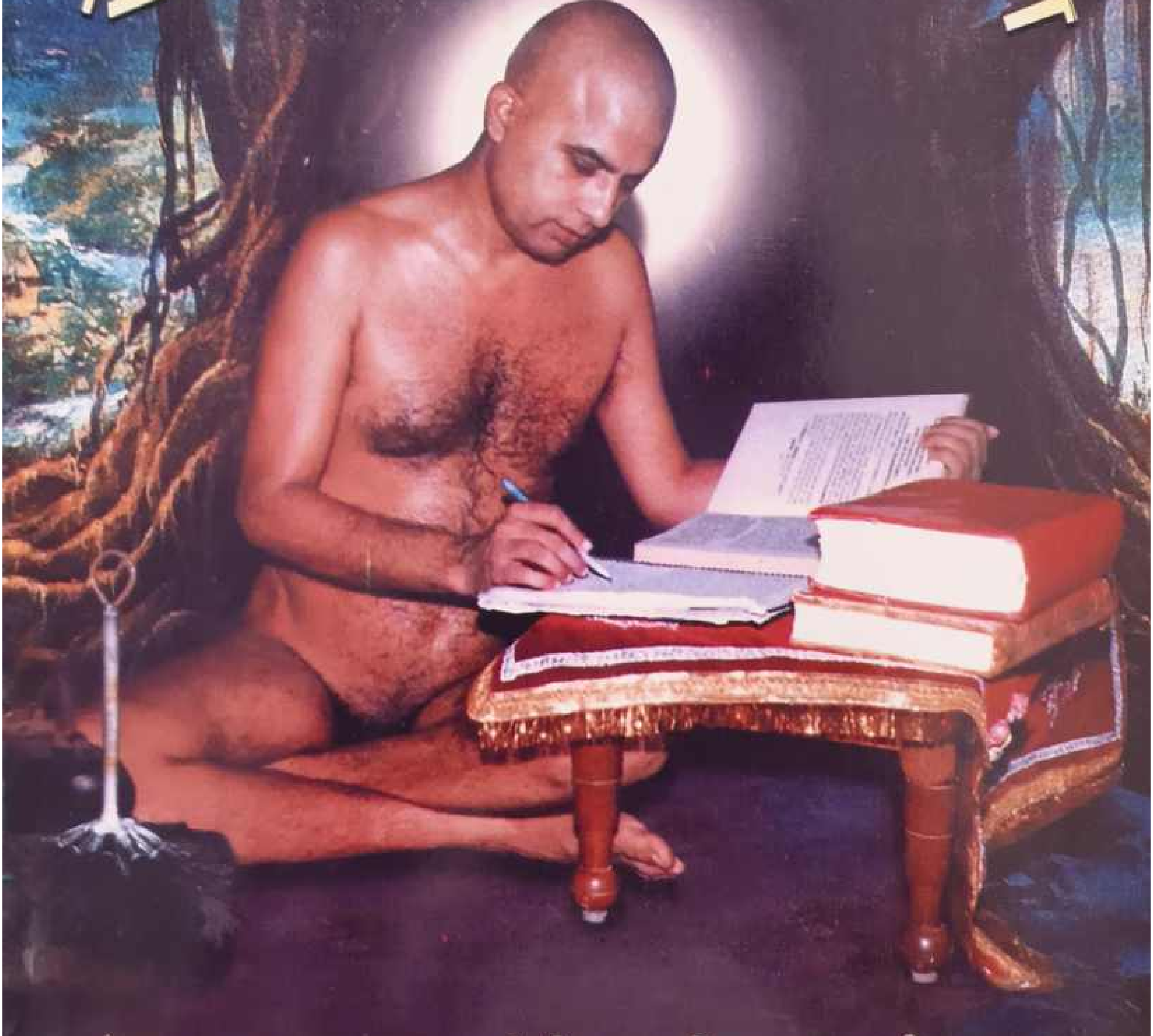

लेखक-परम पूज्य गणाचार्य श्री १०८ विराग सागर जी महाराज

परम पूज्य आ. श्री १०८ आदि सागर जी महाराज (अंकलीकर)

परम पूज्य आ. श्री १०८ महावीरकीर्ति जी महाराज

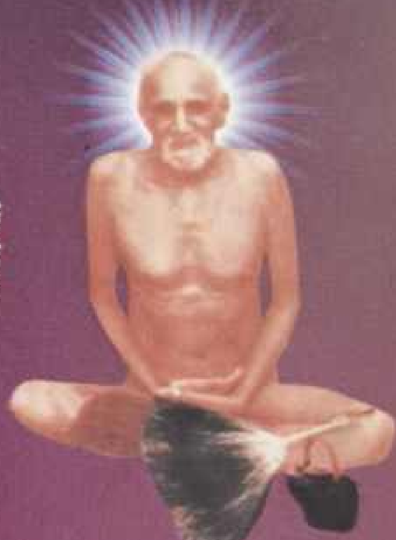

परम पूज्य आ. श्री १०८ विमल सागर जी महाराज

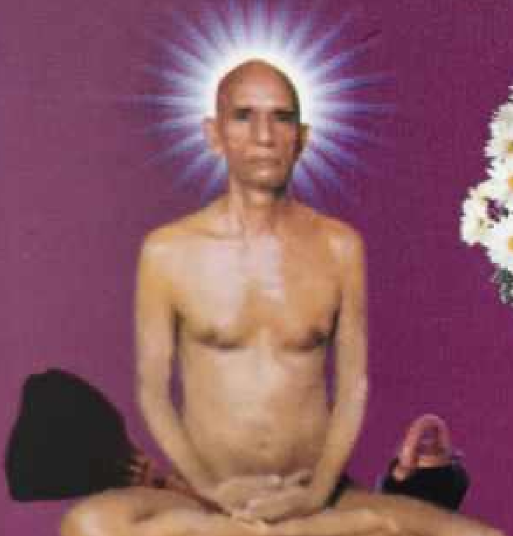

परम पूज्य आ. श्री १०८ सन्मति सागर जी महाराज

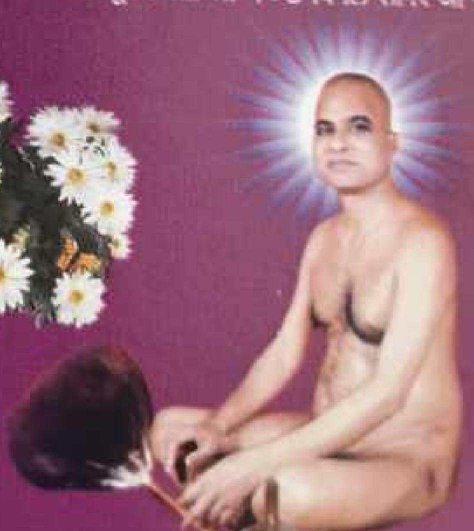

परम पूज्य गणाचार्य श्री १०८ विराग सागर जी महाराज

# संत साधना के प्रेरक प्रसंग

**प्रसंग**
परम पूज्य गणाचार्य श्री १०८ विराग सागर जी महाराज का '' राष्ट्रीय रजत मुनि दीक्षा महोत्सव'' के सुअवसर पर

*

**कृति**
संत साधना के प्रेरक प्रसंग

*

**पुष्प : १६**

*

**लेखक**
प.पू. गणाचार्य गुरूवर १०८ श्री विराग सागर जी महाराज

*

**प्रकाशक**
श्री सम्यग्ज्ञान दिग. जैन विराग विद्यापीठ, भिण्ड (म.प्र.)

*

**संस्करण :**
प्रथम सन् २००७ / २००० प्रतियाँ, कुंजवन- उदगाँव (महा.)

*

**लागत मूल्य :** रू. २०/-

*

**पुण्यार्जक**
१) स्वर्गीय श्रीमती रत्नप्रभा व हिरालालजी मोतीलालजी संघई के स्मरणार्थ, सौ. सुधा व भरत हिरालालजी संघई (पिपंरी दे . निवासी)
२) श्री चिंतामणी लक्ष्मणराव वानरे (परभणी)
३) श्री पुष्पा शाह, दिलीप, प्रदीप, शैलेश, राजेश शाह (बीना)
४) श्री संजयकुमार चिमनलालजी (लोहारिया) प्रवासी मुंबई

# आशीर्वाद

बीजांकुर न्याय के समान श्रुत ज्ञान की परंपरा और आचार्य परंपरा एक दूसरे के पूरक हैं । आचरंति यस्माद् व्रता-नीत्याचार्य: ।।३।। यस्माद सम्यग्ज्ञानादि गुणाधारा हृदय व्रतानि स्वर्गापवर्ग सुखामृत बीजानि भव्या हितार्थ माचरति स आचार्य । (त.बा.९/२०) जिनसे व्रतों को धारण कर आचरण कियां जाता है वे आचार्य हैं । जिन सम्यग्दर्शन ज्ञान आदि गुणों के आधार-भूत महापुरुषों से भव्य जीव स्वर्ग मोक्ष रूप अमृत बीजभूत व्रतों को ग्रहण कर अपने हित के लिए आचरण करते हैं, व्रतों का पालन करते हैं व जो दीक्षा देते हैं वे आचार्य कहलाते हैं ।

श्रुतज्ञान की परंपरा को भविष्य के लिए वृद्दिंगत करने में मनीषियों, महापुरुषों, आचार्यों तथा अन्यों का बेजोड़ योगदान हर प्रकार के ज्ञान के द्वारा सत्साहित्य का प्रतिपादन होता रहा है ।

यह भारत भूमि पूर्व की भांति साधु संतों के अवतरण, निष्क्रमण, आचरण एवं साधना से पवित्र पावन पुनीत होती रही है । तथा भूत, भविष्य एवं वर्तमान काल में अनेक भव्य जीव अपनी आत्मा का उद्धार कर रहे हैं । उन्ही में से मुनिकुंजर समाधि सम्राट, अप्रतिम उपसर्ग विजेता, आदर्श तपस्वी, महामुनि दक्षिण भारत में वयोवृद्ध दिगम्बर संत, आचार्य परमेष्ठी श्री १०८ आदिसागर जी महाराज (अंकलीकर) के पट्टाधीश आचार्य महावीर कीर्ति जी महाराज के शिष्य वात्सल्य रत्नाकर आचार्य विमलसागर जी महाराज इन महापुरूष के उद्धार की प्रणाली आगमोक्त रही है । इन्होंने स्वात्महित के साथ परहित भी किया है तथा अपनी तपोपूत आत्मा से भव्य आत्माओं को हितोपदेश दिया है वह उपदेश ग्रंथ रुप में लिपिबद्ध है ।

आचार्य आदिसागर जी अंकलीकर ने भाद्रपद शुक्ला ४ वि.सं. १९२३ सन् १८६६ को महाराष्ट्र के अंकली ग्राम में जन्म लिया । मगशिर शुक्ला २ वि.स. १९७० सन् १९१३ को सिद्धक्षेत्र कुंथलगिरी पर दीक्षा ली । ज्येष्ठ शुक्ला ५ वि.सं. १९७२ सन् १९१५ को जयसिंहपुर में आचार्य पद को ग्रहण किया । फाल्गुन कृष्णा १३ वि.सं. २००० सन १९४४ को उदगांव-कुंजवन में समाधि मरण किया । उन्होंने अपने दीक्षा काल में प्रायश्चित्त विधान (प्राकृत) को भाद्रपद शुक्ला ५ वि.सं. १९७२, सन १९१५, जिनधर्म रहस्य (संस्कृत) को मगशिर शुक्ला २ वि.सं. १९९९ सन् १९४२, दिव्य देशना (कन्नड़) को मगशिर शुक्ला ११ वि.सं. १९९९ सन् १९४१, शिवपथ (संस्कृत) को भाद्रपद शुक्ला ४ वि.सं. २००० सन् १९४३, वचनामृत (मराठी) को माघ शुक्ला १४

वि.सं. २००० सन् १९४३, उद्बोधन (कन्नड़) को फागुन शुक्ला ११ वि.सं. २०००, सन् १९४३, अंतिम दिव्य देशना (कन्नड़) को फागुन कृष्णा १३ वि.सं. २००१ सन् १९४४ में पूर्ण किया ।

आचार्य श्री के पट्टाधीश आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी ने वैशाख कृष्णा ९ वि.सं. १९६७ सन् १९१० को फिरोजाबाद में जन्म लिया । फागुन शुक्ला ११ वि.सं. २००० सन् १९४३ को उदगांव में दीक्षा ग्रहण की । आश्विन शुक्ला १० वि.सं. २००० सन् १९४३ को आचार्य पद ग्रहण किया । माघ कृष्णा ६ वि.सं. २०२८ सन् १९७२ को महसाना में समाधि प्राप्त की । आचार्य श्री ने परंपरागत ज्ञान से अपने दीक्षा काल में प्रायश्चित विधान (संस्कृत) को फागुन शुक्ला १३ वि.सं. २००९ सन् १९५२, वचनामृत (अंग्रेजी) वर्ड्स ऑफ नेक्टर (Words of nector) को मार्गशीर्ष कृष्णा १० वि.सं. २००० सन् १९४३, धर्मानंद श्रावकाचार (हिंदी) को चैत्र शुक्ला १३ वि.सं. २००० सन् १९४३, प्रबोधाष्टक (संस्कृत स्वोपज्ञ टीका सहित) को फाल्गुन शुक्ला ११ वि.सं. २००४ सन् १९४७, शिवपथ टीका को मगशिर कृष्णा १० वि.सं. २००४ सन् १९४७, जिनधर्म रहस्य (हिंदी टीका) को फागुन शुक्ला १३ वि.सं. २०१० सन् १९५४, चतुर्विंशति स्तोत्र (संस्कृत)को मगशिर शुक्ला ११ वि.सं. २०१८ सन् १९६१ में पूर्णता की।

आचार्य विमलसागर जी ने आश्विनी कृष्णा ७ वि.सं. १९७२ सन् १९१५ कोसमा में जन्म लिया । फागुन शुक्ला १३ वि.सं. २००९ सन् १९५२ को सोनागिर में दीक्षा ग्रहण की । मगशिर कृष्णा २ वि.सं. २०१८ सन् १९६० को टूंडला मे आचार्य पद प्राप्त किया । पौष कृष्णा १२ वि.सं. २०५१ सन् १९९४ को सम्मेद शिखर में समाधि मरण किया । अपने दीक्षा काल में परंपरागत ज्ञान को जिनवाणी का वैभव (हिंदी) को कार्तिक शुक्ला १५ वि.सं. २००८ सन् १९५१, हे आचार्य आदिसागर अंकलीकर (हिंदी) कार्तिक कृष्णा १०, वि.सं. २०३९ सन् १९८२, संदेश (हिंदी) को आश्विनी शुक्ला ९ (२३अक्टूबर) को वि.सं. २०५० सन् १९९३ को प्रतिपादन कर पूर्ण किया ।

संदेश–हमारी आचार्य परंपरा में प्रथम मुनि कुंजर आचार्य आदिसागर जी अंकलीकर हैं । आप आचार्य महावीर कीर्ति जी के दीक्षा गुरु हैं । आचार्य आदिसागर जी अंकलीकर ने अपना आचार्य पद भी महावीर कीर्ति जी को दिया हैं।

जैन समाज में आचार्य आदिसागर जी अंकलीकर की परंपरा और आचार्य शांति सागर जी दक्षिण की परंपरा इस युग में निर्बाध चली आ रही है । समाज का कर्तव्य

है कि किसी प्रकार का विवाद न करके दोनों आचार्य परंपरा को आगम सम्मत मानकर वात्सल्य से धर्म प्रभावना करें ।

आचार्य आदिसागर जी अंकलीकर से आचार्य महावीर कीर्तिजी से आचार्य विमल सागर जी ने परंपरागत ज्ञान प्राप्त किया है । आपका ज्ञानवरणीय कर्म का क्षयोपशम अच्छा है । प्रत्येक विषय में प्रवेश है । जिह्वा पर तो सरस्वती का ही वास है । पठन-पाठन का क्रम व्यक्त ही है । हेयोपादेय के ज्ञान में निष्णात हैं । इसी ज्ञान से उपदेश देते हैं। इसी प्रकार अनेक शिष्य समूह अपने आत्महित करने में तत्पर है । प्रस्तुत कृति 'संत साधना के प्रेरक प्रसंग' नामक है। यह आपके द्वारा उपदेशित है । नाम के अनुसार ही उसमें विषय निषद्ध है । इसको पढ़ने से भव्य जीव बोधि की सिद्धि कर सकेगें । इसका प्रकाशन रजत मुनि दीक्षा महोत्सव के उपलक्ष में किया जा रहा है । यह श्रावको को उच्चस्तर बनाने में सहयोगी एवं निर्विकल्प दशा को प्राप्ति करेगें । राष्ट्र में सुख शांति होगी।

आसौज, २००७ — आचार्य सन्मतिसागर

* * *

## परिचय : तपस्वी सम्राट परम पूज्य आचार्य श्री १०८ सन्मति सागर जी महाराज

| | |
|---|---|
| जन्म | : माघ शुक्ला ७ वि.सं. १९९५ सन् १९३८ फफोतू |
| क्षु. दीक्षा | : श्रावण शुक्ला ८ वि.सं. २०१८, सन् १९६१ मेरठ |
| मुनि दीक्षा | : कार्तिक शुक्ला १२ फि,हं, २०१९ सन् १९६२ सम्मेद शिखर |
| आचार्य पद | : माघवदी ३ वि.सं. २०२९, ३ जनवरी १९७२ मेहसाना |

# २१वीं सदी के ज्योति पुन्ज : आचार्य विराग सागर जी

डॉ. के. एल. जैन, प्राचार्य
शासकीय कन्या महाविद्यालय, टीकमगढ़ (म.प्र.)

**अपरिमित प्रज्ञा के धनी :**

'संत' वह है जिसकी सरलता का कोई अंत न हो, जो संसार से विरक्त होकर स्व-पर कल्याण की भावना में निरत हो, जिसके अन्तःकरण में वात्सल्य और स्नेह का निर्झर सतत् प्रवाहमान हो । जिसकी वाणी से जन-जन की कल्याण कामना के भाव निसृत हो, जिन्होंने 'ज्ञान' की अतुल गहराईयों में उतरकर 'सृजन' के मौलिक स्वरूप को गढ़ा हो। ऐसे अनेक विशेषणों से विभूषित 'प्रज्ञा' के धनी आचार्य विराग सागर जी का इस धरित्री पर अवतरण इस सदी की एक अन्यतम घटना ही मानी जायेगी ।

**असाधारण व्यक्तित्व के धारक :**

एक ऐसा व्यंक्तित्व जिसमें जादुई तिलस्म का आकर्षण हो, यह आकर्षण है उनके त्याग का, साधना का, तप का, चर्या का और उस असाधारण ज्ञान का जिसके कारण श्रावक दीवानगी की हदों को भी पार कर जाता है । आपकी सौम्य मुद्रा के दर्शन मात्र से ही दर्शनार्थियों के कालुष्य का विरेचन हो जाता है । आपके सानिध्य का सुफल और आशीष का हस्तकमल जीवन को निर्जर और निरामद बना देता है । यही वजह है कि आचार्य विराग सागर जी जहाँ से निकल पड़ते हैं वहाँ के लोग उनके हमेशा-हमेशा के लिए बन जाते हैं ।

**अनोखे बचपन का विरल सम्मोहन :**

दमोह (म.प्र.) जिले के पथरिया ग्राम में पाषाणों के बीच इस हीरे का अवतरण २ मई १९६३ (वैशाख शुक्ल ९ वि.सं. २०२०) को रात्रि ९ बजे हुआ । पुण्यात्मा श्रीमान् सेठ कपूरचंद जी एवं जननी श्रीमती श्यामादेवी (वर्तमान में आपसे ही दीक्षित पूज्य क्षुल्लिका श्री विशान्त श्री माताजी) की कोख से एक ऐसा कमल (अरविन्द) खिला जिसने अपनी अनुपम सुगन्धी से सारे बुन्देलखण्ड को महका दिया । कभी-कभी आगत की आश्चर्य चकित करने वाली घटनाएँ वर्तमान में ही अपना संकेत देने लगती है । कुछ ऐसा ही हुआ बालक अरविन्द के साथ जब वे बचपन में नग्न अवस्था में खड़े होकर हाथ में झाड़ू लेकर (पिच्छी का प्रतीक) माँ से बोले-मुनिराज का पड़गाहन करो । क्योंकि कुछ दिन पूर्व उन्होंने इस तरह के दृश्य को देखा था । उक्त दृश्य का आत्म पटल पर अंकन आज आचार्य विराग सागर जी के रूप में परिलक्षित हो रहा है । यह इस धरित्री का पुण्य उदय ही माना जाएगा।

बालक अरविन्द की बाल्य अवस्था की क्रियाएँ सम्मोहन की सीमाएँ लाँगने में समर्थ थीं, सेवा कार्य के हद दर्जे की दीवानगी उनमें कूंट-कूट कर भरी हुई थी । इसी भावना के कारण बालक अरविन्द सभी को सम्मोहित कर लेते थे । संवेदनशीलता की

भावना ने उन्हें प्राणी मात्र की कल्याण कामना से आपूरित कर दिया था । यही कारण है कि मुनि विराग सागर जी अहर्निश साधना की असीम ऊँचाईयों की ओर अत्यन्त तीव्रता के साथ अग्रसर हो रहे हैं ।

**अर्जन और सर्जना के विविध सोपान :**

बालक अरविन्द की प्रारंभिक शिक्षा पथरिया और इसके उपरांत श्री शांति निकेतन दिगम्बर जैन संस्कृत विद्यालय कटनी में हुई । निष्णात गुरु पं. जगन्मोहनलालजी के सानिध्य ने 'प्रज्ञा'के अन्तर्ज्योति को जागृत कर दिया । ज्ञानाराधन की ललक और वैराग्य भावना की व्यग्रता ने मनोयोग पूर्वक अर्जन की प्रवृत्ति को परवान चढ़ने का काम किया, परिणाण स्वरूप १६-१७ वर्ष की अवस्था में २० फरवरी १९८० फाल्गुन शुक्ल ५ वि.सं. २०३६ बुढ़ार जिला शहडोल (म.प्र.) में परम पूज्य तपस्वी सम्राट आचार्य श्री सन्मति सागर जी से आपने क्षुल्लक दीक्षा ली तब आपका नाम पू.क्षु. पूर्ण सागर जी रखा गया, २०-२१ वर्ष की अल्पायु में ९ दिसंबर १९८३ मगशिर शुक्ल ५ वि.सं. २०४० को औरंगाबाद (महाराष्ट्र) में वात्सल्य रत्नाकर परम पूज्य आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज से मुनि दीक्षा ग्रहण की, तब आपका नाम मुनि विराग सागर जी रखा गया । दीक्षा ने शिक्षा के विकासक्रम को गंगा की धारा के समान प्रवाहमान रखने में एक ऊर्जयन्त-ऊर्जा से संचरित रखा, जिससे अल्प समय में आप न्याय, व्याकरण, दर्शन, साहित्य व अध्यात्म के महान चितेरे बन गए ।

**महाव्रती की महती प्रभावना :**

आज का वातावरण विसंगतियों और विद्रूपताओं की कालिमा से कलंकित है। ऐसे वातावरण में मनुष्य का नैतिक विकास हो पाना काफी दुष्कर जान पड़ता है । सर्वत्र हिंसा, अनैतिकता, बेईमानी और झूठ का बोलबाला है, स्वार्थ की संकीर्णताओं ने व्यक्ति को संवेदन शून्य और हृदयहीन बना दिया है, प्रेम और भाई चारे के सद्व्यवहार की अपेक्षाएँ दिनोंदिन क्षीण होती जा रही है- ऐसे वातावरण में महाव्रती का संदेश जीवन में ऐसी ऊर्जा का संचार करता है जिससे कि जीवन की धारा ही बदल जाती है । आचार्य विराग सागर जी ने भ्रमित युवा पीढ़ी को आचरण और नैतिक मूल्यों की दृष्टि से जो दिशा-दृष्टि प्रदान की है वह इस सदी की श्रेष्ठतम घटनाओं में इतिहास के पन्नों पर स्वर्णाक्षरित की जायेगी ।

**कुशल संघ संचालक :**

मोक्ष के आकांक्षी, वीतरागी पथ के पथिक, पदों से अलिप्त मुनि विराग सागर जी महाराज की उत्तरोत्तर साधना, अनुशासन एवं आगमिक प्रणाली से प्रभावित होकर अनेक आत्म हितैषी उनके साथ आत्म-साधना करने के लिए तत्पर हो गये, साथ ही लगभग १० आचार्य परमेष्ठी उनके मनोज्ञ व्यक्तित्व को देखकर उन्हें अपना आचार्य पद देकर संघ का भार सौंपना चाहते थे तथा कितने ही बार तो अनेक आचार्यों ने उनके आचार्य

पद की घोषणाएँ की लेकिन मुनि विराग सागर जी ने 'मैं अभी इस योग्य नहीं हूँ, या मेरे गुरु अभी विराजमान हैं' ऐसा कहकर उसे स्वीकार नहीं किया फिर भी समय बड़ा बलवान होता है और ऐसा योग आया कि परम पूज्य आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज की आज्ञा एवं आशीर्वाद तथा आचार्य विद्या सागर जी महाराज एवं आचार्य सुमति सागर जी आदि अनेक आचार्यों के आशीर्वाद से आचार्यत्व के गुणों से परिपूर्ण होने के कारण चतुर्विध संघ, द्रोणगिरि की समाज, पं. दरबारीलालजी कोठिया (बीना) आदि अनेक विद्वानों एवं श्रेष्ठियों ने द्रोणागिरि सिद्धक्षेत्र पर ८-११-१९९२ (कार्तिक शुक्ल १३, वि.सं.२०४९ को) उन्हें आचार्य पद से विभूषित कर अपने भाग्य को सजाया था । इस प्रकार साधना-पथ पर उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर आचार्य विराग सागर जी ने अपने ज्ञान, ऊर्जा और साधना के द्वारा आत्म कल्याण और लोक कल्याण के जिन शीर्ष प्रतिमानों को स्थापित किया वह असाधारण ही माना जायेगा ।

**संयमी सृजक गुरूदेव :**

पूज्य गुरूओं के प्रति विनय भाव तथा शिष्यों के प्रति वात्सल्य एवं करूणा भाव तथा समाज के सही मार्गदर्शक एवं देव-शास्त्र-गुरु के प्रति परमागाढ़ श्रद्धा को देख अनेक भक्तों ने आपको अपना गुरु चयन कर आपका शिष्यत्व धारण कर अपने जीवन को मोक्षमार्ग के प्रति समर्पित किया व आपके साथ चलने को तैयार हो गये, आपने संयम काल के २८ वर्षों में भारत के १० प्रांतो में लगभग ३०,०००कि.मी. की पैदल यात्रा कर अनेकों सिद्धक्षेत्रों, अतिशय क्षेत्रों एवं नगरों में अध्यात्मिक साधना कर अनेक भव्यों को दीक्षाऐं दी हैं जिसमें अतिशय क्षेत्र बरासों (भिण्ड) की १३ मुनि दीक्षाएँ, ललितपुर की २१ दीक्षाऐं तथा श्रवणबेलगोला की २५ दीक्षाओं ने जन-मानस पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है और जिससे जैन-जैनेत्तरों में महती प्रभावना हुई । यही कारण है कि आप एक विशाल एवं श्रेष्ठ वटवृक्ष की तरह हैं, जिसकी छत्र छाया में-७ आचार्य, ३९ मुनि, ४० आर्यिका, ६ ऐलक, १९ क्षुल्लक, ६ क्षुल्लिकाएँ एवं अभी आपके निर्देशन में लगभग १५० से भी अधिक ऐसे भी विनेय साधक हैं जो अंतेवासिन के रूप में अपनी साधना में संलग्न हैं तथा आपके कुशल निर्यापकाचार्य में अनेक साधुओं एवं साध्वियों ने समाधि कर अपने जीवन को सार्थक किया है ।

**अनुपम अनुशासन एवं चारित्र साधक :**

चारित्र संवर्धक अनुशासन के पथानुगामी गुरुदेव आप मात्र शिष्यों को दीक्षा ही नहीं देते किंतु उन्हें शिक्षा दे अनुशासन में भी रहना सिखाते हैं । जो शिष्य अनुशासनवान् होते हैं उन्हें सतत् संस्कारित कर ऊँचा उठाते हैं । अपने शिष्यों में अध्यात्मिक संत युवा मुनि श्री विशुद्ध सागर जी, नव चेतना के दूत मुनि श्री विभव सागर जी, ज्ञान मनीषी मुनि श्री विमर्ष सागर जी, मुनि श्री विनिश्चय सागर जी, मुनि श्री विहर्ष सागर जी तथा प्रवचन पटु

मुनि श्री विमद सागर जी आदि को तो आपने लगभग दो वर्ष पूर्व (२००५ कुंथुगिरी) से ही आचार्य पद की घोषणाऐं कर दी थी किंतु धन्य है ऐसे शिष्यों को कि जिन्होंने पद की होड़ नहीं की । अपितु उक्त महाराजों में से अभी ३ मुनिराजों को गुरुदेव ने ही अपने हाथों से उन्हें आचार्य पद के योग्य शिक्षा एवं प्रायश्चित ग्रंथ पढ़ाने के पश्चात् औरंगाबाद में ३१ मार्च २००७ को आचार्य पद से विभूषित कर अपने हृदय की उदारता का साकार दर्शन दिया ।

अनुशासक वही हो सकता है जो प्रथम स्वयं ही अनुशासन के सांचे में ढला हो, वे अनुशासन में मात्र ढले ही नहीं, किंतु समग्र शिष्यों को भी अनुशासन में ढाला है यद्यपि अनुशासन विहीन ईर्षालु कुछ व्यक्तियों ने समय-समय पर आप पर छींटा कशी भी की, किंतु आप जरा भी विचलित नहीं हुए । सूर्य की भाँति प्रकाशमान ही होते रहे हैं तथा आपने अनुशासन में किंचित् भी ढील नहीं दी और न किसी परिस्थिती के सन्मुख घुटने टेके हैं । यही देख स्वस्ति श्री भट्टारक चारूकीर्ति जी श्रवणबेलगोला के मुख से शब्द प्रस्फुटित हुए कि आचार्य विराग सागर जी एवं उनका संघ चलती फिरती यूनिवर्सिटी है।

**अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी :**

वैराग्य को दृढ़ करने एवं संयम साधना को निर्दोष बनाने तथा आगमानुकूल चर्या बनाने के लिए, समय का सदुपयोग, धर्म ध्यान की वृद्धि एवं केवलज्ञान की उत्पत्ति में कारणभूत अहर्निश आचार्य प्रणीत शास्त्रों के स्वाध्याय में आप निमग्न रहते हैं तथा अपने साधु समूह को भी निरंतर स्वाध्याय के महत्व को बताकर उन्हें अध्ययन के लिये प्रोत्साहित एवं प्रेरित करते रहते हैं, यही कारण है कि आपने षट्खण्डागम श्री धवला जी की ५ वर्षों में १६ वाचनायें बुंदेलखण्ड में मूर्धन्य विद्वानों की उपस्थिति में निर्विघ्न पूर्ण कीं, साथ में अनेक स्थानों में सम्यग्ज्ञान शिक्षण शिविर व विद्वत गोष्ठी का आयोजन किया तथा आपने अपने शिष्यों को अष्टसहस्त्री, त्रिलोकसार, तिलोयपण्णति, गोम्मटसार, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, मूलाचार, आचारसार जैसे महान ग्रंथो का अध्ययन कराया, जिससे स्पष्ट है कि आप चारों अनुयोगों के प्रकाण्ड विद्वान हैं ।

**श्रुतसेवा :**

ज्ञान के प्रति अभिरूचि होने से आप निरंतर श्रुत सेवा में तल्लीन रहते हैं और आगम के चिंतन एवं मनन के द्वारा तत्व की गहराई में उतरकर उसके गूढ़ से गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन कर आगम की पुष्टि करते हुए लोगों की भ्रांति को दूरकर उनके सम्यग्दर्शन को निर्मल करते हैं । इस प्रकार आपने आगम के आधार से अपने साधना काल में अनेक कृतियाँ- सम्यग्दर्शन, व्यसन विचार, जिनेन्द्र दर्शन पूजन, शुद्धोपयोग, तीर्थंकर दिव्य दर्शन, सल्लेखना से समाधि, आगम चक्खू साहू, परम दिगम्बर जैन मुनि, सर्वोदयी दिगम्बर जैन धर्म आदि हैं । जिसमें शुद्धोपयोग कृति, जिस पर लगभग १५० विद्वानों ने समीक्षा कर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है क्योंकि यह कृति अनेक मिथ्या विकल्पों का निसर्ग करती

है। इस तरह सर्जना के क्षेत्र में लगभग ५० पुस्तकों के द्वारा सरस्वती के भण्डार को भरने का आपने जो भागीरथ कार्य किया है वह अनुपम है इनमें भारतीय साहित्य, धर्म, दर्शन, ज्ञान और चारित्र के ऐसे बहुविध रूप देखने को मिलते हैं जिन्हें देखकर आचार्य श्री की बहुमुखी प्रतिभा का सहज ही आकलन किया जा सकता है ।

आपकी सत्प्रेरणा से "श्री सम्यग्ज्ञान दिग. जैन विराग विद्यापीठ, भिण्ड" अनेकों धार्मिक एवं लौकिक (शिशु, प्राईमरी, मिडिल एवं हाई स्कूलीय) शिक्षायें प्रदान कर रही है । इसी प्रकार पन्ना में श्री सम्यग्ज्ञान दिग. जैन स्कूल ब्रजपुर में श्री सम्यग्ज्ञान दिग. जैन विद्यालय भी अपनी मिडिल तक की शिक्षा प्रदान कर रहे हैं । बीना में आचार्य विराग सागर बी.एड. कॉलेज ने अल्प समय में बहुत बड़ी सफलता हासिल की है ।

धर्म प्रचार-प्रसार के क्षेत्र में "विराग वाणी मासिक" पत्रिका निरन्तर हर स्तर के आलेखों से भरपूर रहती हुई जन मानस को आकर्षित करती है ।

**प्रतिभा सम्पन्न गणाचार्य :**

१६-१७ अगस्त २००३ जब उपसर्ग के बादल आप पर मंडराये, तब आपकी एक आसन से ३६ घंटे की लगातार साधना, अथाह समता, मेरुवत् संकल्प शक्ति से प्रभावित होकर छत्तीसगढ़ (दुर्ग, वैशाली आदि अनेक स्थानों) की समाज ने आपको "उपसर्ग विजेता" की उपाधि से अलंकृत कर अपने जीवन को कृतार्थ किया । २००४ के चातुर्मास काल में आपकी निर्मल साधना से प्रभावित होकर कारंजा समाज ने आपको "चारित्र शिरोमणि" की उपाधि से सम्मानित कर अपने आपको गौरवान्वित किया था ।

आपने अपनी कुशलता के द्वारा अल्पायु में ११७ पथिकों को मोक्ष की राह दिखाकर उनका मोक्षमार्ग प्रशस्त किया है इसलिये परम पूज्य गणधराचार्य कुंथुसागर जी महाराज ने २००५ में १५ आचार्यों एवं २०० साधुओं की उपस्थिति में जनसमूह के समक्ष आपको "श्रमण रत्नाकर" की उपाधि से सुशोभित किया था । आपने जो धवला ग्रंथ की १६ पुस्तकों की वाचना लगभग १५० विद्वानों की उपस्थिति में ५ वर्षों में पूर्ण की है इससे प्रभावित होकर २००५ में मूडबिद्री के भट्टारक श्री चारुकीर्ति जी एवं वहाँ की समाज ने आपको "सिद्धांतरत्न" की उपाधि प्रदान कर अपना अहोभाग्य समझा था। आपने अपने संयम जीवन में अनेक अध्यात्मिक ग्रंथों का रसास्वादन किया है, कराया है इसलिये आप उपसर्गों से गुजरकर भी काँटों में गुलाब की तरह विकसित हुए अत: आपकी अध्यात्म साधना से प्रभावित होकर धर्माधिकारी डॉ. वीरेन्द्र कुमार हेगड़े जी ने २००५ धर्मस्थल में "अध्यात्म योगी" की उपाधि से विभूषित कर अपना गौरव बढ़ाया है । २००६ मेलचित्तामूर में स्वस्ति श्री लक्ष्मीसेन भट्टारक जी ने "समता मूर्ति" की उपाधि से, २००७ औरंगाबाद में त्रय आचार्य पद प्रतिष्ठा के अवसर परम पूज्य आचार्य श्री विशुद्ध सागर जी महाराज, परम पूज्य आचार्य श्री विभव सागर जी महाराज, परम पूज्य आचार्य श्री विमद सागर जी

एवं वहाँ की समाज ने लगभग २५ संघों के नायक होने से आपको गणाचार्य तथा २००७ शिरडशहापुर में हुये श्री मल्लिनाथ श्रीमज्जिनेन्द्र पंचकल्याणक महोत्सव के पावन सुअवसर पर परम पूज्य आचार्य विभवसागर जी महाराज एवं सकल दिगम्बर जैन समाज ने ''वात्सल्य रत्नाकर'' की उपाधि से विभूषित कर अपने जीवन में गुरु महिमा का प्रकटीकरण कर अपने जीवन को सौभाग्यशाली बनाया ।

इसी प्रकार आपके लिये समय-समय पर विभिन्न स्थानों पर विद्वानों ने उपाधियाँ दीं, यथा- सन् १९८८ बरासों में समाज ने ''क्रांतिकारी संत'', १९९४ बीना की समाज ने ''बुंदेलखण्ड के प्रथमाचार्य'', १९९९ भिण्ड में पण्डित सुमतिचंद्र जी शास्त्री ने ''अध्यात्म सिद्धांत वारिधि'', २००१ गया में श्री पण्डित लक्ष्मण प्रसाद जी ने ''न्याय मार्तण्ड'', २००२ श्रेयांसगिरि में ''तीर्थ उद्धारक'' एवं ''संत शिरोमणि'', २००४ राजिम में पण्डित श्री ऋषभकुमार जी ने ''समाधि सम्राट'', २००५ शमनेवाडी में परम पूज्य आचार्य गुणधरनंदी जी ने ''ज्ञान दिवाकर'' की उपाधि से विभूषित कर अपने जीवन को गौरवान्वित किया ।

**अहिंसा और मानव धर्म के संदेशवाहक :**

आज सर्वत्र 'हिंसा' का साम्राज्य है । यह हिंसा किसी जीव की नहीं वरन् उन मूल्यों की है जो हमारी संस्कृति के प्रबल आधार हैं । सांस्कृतिक मूल्यों का आज जिस तरह से ऱ्हास हो रहा है वह अत्यन्त दु:खदायी है । मानवीय सम्बन्धों में जिस तीव्रता के साथ बेचारगी का बोलबाला बढ़ रहा है उससे आत्मीयता धीर-धीरे लुप्त होती जा रही है। संवेदनशून्य मानव आज जिस मुकाम पर खड़ा है वह एकदम हताश, निराश और विवश है, ऐसे नैराश्य के वातावरण में आचार्य श्री की वाणी के द्वारा जिन अमृत वचनों की वर्षा जगह-जगह पर हो रही है वह संत्रस्त मानवों के लिए संजीवनी की तरह जीवनदायिनी का काम कर रही है । जीवन का अर्थ क्या है ? इसे अर्थवान बनाने के लिए किन-किन चीजों की आवश्यकता होती है ? इतिहास के द्वारा स्मरण पाना कैसे संभव है ? आदि जीवन के उन शाश्वत सूत्रों का संदेश हमें आचार्य श्री के साहित्य में देखने को मिलता है। व्यक्ति को आज इस बात का बोध होना चाहिए कि सबसे बड़ा धर्म मानव धर्म है । इसकी रक्षा के लिए व्यक्ति को सतत् सचेत रहना चाहिए । आचार्य श्री ने मानव धर्म और महावीर के प्रमुख सिद्धान्त अहिंसा का जन-जन तक पहुँचाने का जो स्तुत्य कार्य किया है उसे इतिहास कभी विस्मृत नहीं कर पायेगा ।

* * *

# मेरे ये दो शब्द ............

*प्रस्तुत कृति 'संत साधना के प्रेरक प्रसंग' यह मात्र लेखन ही नहीं किन्तु साधना पथ के पथिकों के खट्टे – मीठे अनुभव हैं, पथगामी या उत्पथगामी हो जाने का एक जीवंत नक्शा है । गत पथिकों के साहस का पुरस्कार तथा आगतों के लिए शिक्षा है ताकि वे कभी दिग्भ्रमित ना हो सकें तथा पथ संचालकों के लिए प्रार्थना है कि शरणागत कैसे दिग्भ्रमित हो जाता है अतः उसके कारणों को जानकर शरणागत क्षणों से ही उसे सम्यक् साँचे (संस्कारों) में ढाल सकें ।*

*काश ऐसा हो सका तो निश्चित है आपको उपकार का मीठा फल प्राप्त होगा । आप अपने किये कार्य से संतुष्ट ही नहीं किन्तु हर्षित भी होंगे, साथ ही आगत शरणार्थी शिष्य गण भी आपको पा अपना सौभाग्य सराहेंगे तथा समाज, विद्वज्जन एवं श्रेष्ठी भक्त गण भी अपना गौरव से मस्तक ऊँचा करेंगे और ऐसे ही साधकों की अपेक्षा / कामना / सेवा के साथ पुण्य लाभ लेंगे । यद्यपि ऐसा लिखना / कहना / अनुमोदन करना सब आसान है किन्तु उसे साकार करना पुरुषार्थ साध्य है, श्रम साध्य है, कष्ट साध्य भी है । निस्पृही, धीर, गंभीर, साहसी एवं सहिष्णु ही इसमें यथाशक्य सफल हो सकते हैं । यथाशक्य सफलता सभी को मिले ऐसी वीर प्रभु से प्रार्थना के साथ .............*

*इत्यलं*

# अनुक्रमणिका


१. रत्नत्रय एवं दुर्लभ मानव जीवन ........ १५
२. वैराग्य पथ ........ १६
३. सोच- विचार कर बढ़ना ........ १८
४. गुरु चयन / शरण /समर्पण ........ १९
५. धर्न प्रभावना की आड़ में ........ २२
६. अन्य संघों से आगत शिष्यों के प्रति आचार्यों, साधुओं के कर्तव्य ........ २३
७. अन्य संघ से आगत शिष्यों के प्रति आचार्यों की सम्यक् शिक्षाऐं ........ २४
८. गुरु कृपा एवं योग्य शिष्यों का संग्रह ........ २६
९. दीक्षा एवं लक्ष्य वृद्धि ........ २८
१०. गुरु निर्देशन में चलने बावत् वैराग्य हीन विचार ........ २९
११. गुरु छत्र छाया की नहिना ........ २९
१२. सहयोग की कानना/उपसंघों में जाने का आग्रह ........ ३०
१३. सहयोगी की अनुकूलताऐं प्रतिकूलताऐं ........ ३२
१४. संघ में परेशानियों के हेतु एवं तर्क -वितर्क ........ ३६
१५. प्रस्ताव अदूर दृष्टि के ........ ४०
१६. सहयोग कहाँ तक उचित ........ ४२
१७. सहयोग का परिणाम ........ ४३
१८. दीक्षायें देने की इच्छाऐं ........ ४४
१९. पदैषणाऐं ........ ४४
२०. सनस्या ........ ४५
२१. आवश्यक योग्यताऐं ........ ४६
२२. टूटने के मुख्य कारण ........ ४६
२३. गुरु के अनुसार चलने या नहीं चलने से लाभ-हानि ........ ४७
२४. सहयोग का परिणाम पश्चाताप / गुरु चरण से दूर व निकट रहने का प्रभाव ........ ५२
२५. आचार्यों के प्रति आचार्य आदि पद लेने-देने बावत् चिंतन ........ ६५
२६. अन्य दीक्षित शिष्यों को संघ में रखने, दीक्षा या पद देने से लाभ-हानि ........ ६७
२७. सल्लेखना - एक विचारणीय तथ्य ........ ६९
२८. विद्वज्जनों एवं समाज का साधुओं के प्रति कर्तव्य ........ ७४
२९. वर्तमान में प्राय : विद्वानों की स्थिति ........ ७९
३०. उपसंहार ........ ८०

# १. रत्नत्रय एवं दुर्लभ मानव जीवन

हे साधक ! भारतीय श्रमण संस्कृति धर्म संस्कारो से संस्कृत है इसी कारण यह हरी – भरी है, पुष्पित एवं फलीभूत है। इसका मुख्य कारण है, कि इस धरा पर अनेकों ऐसे महापुरुष हुए जिन्होंने नर से नारायण बनने की सफल यात्रायें की हैं । उन्होंने मानवीय जीवन का मूल्यांकन किया, उसे जाना, सम्हाला और उसे नैतिक, धार्मिक आचरण से श्रृंगारा भी है, तभी वे आत्मा से परमात्मा बन हम सभी के लिये दिशा बोधक बने/मार्गदर्शक बने/आदर्श बने।

प्राय: उन्होंने कहा कम, अपने जीवन में उतारा अधिक है। उनका विश्वास प्रचार में कम, आचरण में अधिक रहा। संख्या (कान्टिटी) की अपेक्षा गुणवत्ता (क्वालिटी) की अधिक कीमत की। यही कारण है कि उनके प्रति सत्पुरुषों की अनायास श्रद्धा जगती गई, विनय और भक्ति बढ़ती गई।

उनके हर कदम सम्यक् हैं, उनके विचार भी सम्यक् हैं तथा उनके वचन भी सम्यक् हैं। यही कारण है, कि उन्हें हमारे विवेक ने परमात्मा स्वीकार किया तथा उनकी वाणी को परमात्मा की वाणी मान उसका हृदय से पान किया। उन्होंने मात्र कहकर ही नहीं किन्तु चलकर और पाकर दिखा दिया कि मोक्षमार्ग व मोक्ष क्या है? मोक्ष जहाँ अनंत शान्ति, अनंत सुख, अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन और इन सब अनंतों को वहन करने वाला अनंत बल भी है। यहाँ जो भी है वह सहज शुद्ध आत्मा के अपने निजी गुण हैं । गुणों की निरावरण शुद्ध उपलब्धि है, जो फिर कभी चिरकाल में भी खण्डित नहीं हो सकती, वह शाश्वत रहती है यही कारण है कि एक बार सिद्ध परमात्मा हो जाने पर वे फिर कभी किसी भी परिस्थिति में संसार में अवतार नहीं लेते। ठीक भी है, जिन्होंने कर्म रुपी बीज को समूल ही जला दिया हो फिर वह दग्ध बीज की तरह संसार में पुन: अंकुरित नहीं होते। एक बार मोक्षगामी जीव सहज शुद्ध, सिद्ध अवस्था प्राप्त करने के उपरान्त पुन: वापिस नहीं आते। उनके पद चिन्हों पर चलने वाले निर्ग्रंथ मुनि ही हमारे सच्चे गुरु हैं।

आगम कथित ऐसे ही सच्चे देव, शास्त्र , गुरु, तथा उनके द्वारा बताये

गये मोक्षमार्ग में साधनभूत तत्वादि पर श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है।

स्व-पर भेद विज्ञान के साथ अपने हिता-हित कर्तव्यों का बोधपूर्ण आगम ज्ञान (विवेक) होना सम्यग्ज्ञान है ।

मोक्षमार्ग पर सम्यक् सयंमपरक साहसी कदमों को रखना/चलना/बढ़ना सम्यक् चारित्र है ।

सम्यक् श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) निरन्तर मोक्ष व मोक्षमार्ग को पाने के लिये प्रेरित करती है । सम्यग्ज्ञान गति और संबलपूर्ण प्रकाश देता है । राह और राह में चलने के लिये विविध उपाय बताता है, अवस्था और अवसर का दिग्दर्शन कराता है । सम्यक् चारित्र - ज्ञान तो चारों गतियों में हो सकता है किन्तु पूर्ण सम्यक्चारित्र एक मात्र मनुष्य गति में ही होता है, इसलिये मानव को दैव दुर्लभ सर्वोत्तम जीवन कहा गया, किन्तु ज्ञान के बिना प्राणियों को इसकी कीमत नहीं होती, वे इसका मूल्यांकन नहीं कर पाते और वे इसे यों ही गँवा देते हैं ।

दो हजार सागर प्रमाण त्रस काल की अवधि में मात्र ४८ भव ही मनुष्य के होते हैं। उसमें भी १६ स्त्री, १६ पुरुष, १६ नपुंसक के भव होते हैं । इसमें किसी को पता नहीं, कि किसका कौन से नम्बर का भव चल रहा है। कहीं ऐसा तो नहीं, कि यह हमारा अंतिम आठवाँ ही भव हो । यदि इस पर्याय में अपना हित नहीं किया तो पुनः अनंत काल तक निगोद आदि की पर्यायों में भटकना पड़ेगा तथा वर्तमान पर्याय का भी पता नहीं कब कहाँ अवसान हो जाए। अतः भव्य मुमुक्षु ! संसार से पार होने के लिये चिंतन प्रवाह प्रारम्भ होता है यथा

## २. वैराग्य पथ

हे साधक ! विचार कर, वैराग्य कब और कैसे होता हैं ? वैराग्य - पूर्व संस्कार वश, धार्मिक वातावरण, सत् संगति, गुरुजनों के दर्शन, प्रवचन, सेवा अथवा शास्त्र स्वाध्याय देख-सुन कर, संसार की क्षण-भंगुरता, क्षणिक संयोग मानव पर्याय की दुर्लभता, धर्म की महिमा आदि का ज्ञान होने पर होता हैं, जिससे सांसारिक कार्यों से, व्यक्तियों से उदासीनता आती हैं। संयम धारण कर

जीवन को सफल बनाने की उत्कृष्ट भावना जागृत होती हैं, तदनुरुप प्रयास भी प्रारम्भ होता है।

हे मुमुक्षु ! वैराग्य संयम की आधारशिला है। संसार,शरीर, भोगों से विरक्ति ही संयम की नींव है । वैराग्य ठोस, स्थिर होना चाहिए, क्षणिक या अस्थिर नहीं। वैराग्य किसी व्यक्ति, घटना, परिस्थिति से प्रेरित होने के साथ स्वयं के दीर्घकालीन हार्दिक चिंतन से दृढ़ता पूर्वक होना चाहिए।

संसार से वैराग्य का अर्थ - धर्म के लिए सांसारिक कुटुम्बी जन, माता-पिता, भाई-बहिन, बेटा-बेटी, रिश्तेदार, परिजन, मित्र,पड़ोसी आदि बन्धुजनों से, धन-दौलत, मकान, ग्राम आदि के व्यामोह से रहित होने के साथ उन सभी से अपने मन को हटाना, संसार से तथा संसार के हेतुभूत कर्मों के आस्रव बंध से डरना, पंच परावर्तन रुप संसार परिभ्रमण से सावधान होना ही संसार भीरुता या संसार से वैराग्य है।

देह से वैराग्य का अर्थ - शरीर हाड़-माँस का पिंड है। इसके लिये कितने भी शुद्ध या पवित्र पदार्थ दिये जायें किन्तु वे सब ही इसके संसर्ग से अशुद्ध हो जाते हैं । इसकी साज-सज्जा, भरण-पोषण में जीवन का अमूल्य,दुर्लभ समय बिता देना ही सबसे बड़ी अज्ञानता है। इसका पोषण सुकुमारता को उत्पन्न करता है, अति दुखोत्पादक दोषों को उत्पन्न करता है, पराधीनता एवं दीनता के साथ उपहास का पात्र बनाता है, रोगों को जन्म देता तथा साधना से डिगाता है। निरन्तर शरीर में उपयोग होने से आर्त्त- रौद्र ध्यान होता है , आत्मा/परमात्मा से उपयोग हटता हैं। ऐसे लोग किन्हीं भी पारमार्थिक क्रियाओं को भाव सहित नहीं कर पाते हैं। अत: वैराग्य का महत्वपूर्ण अंग शरीर से विरक्ति भी है इस वैराग्य की उर्वरा भूमि में ही संयम के बीज अंकुरित होते हैं।

भोग से वैराग्य का अर्थ-पंचेन्द्रियों में प्रधान स्पर्शन और रसना इन्द्रियाँ हैं, इन्हें शास्त्रों में कामेन्द्रिय कहा गया है। इसके साथ-साथ रसना,घ्राण,चक्षु एवं कर्णेन्द्रियों को भोग इन्द्रिय कहा गया है। तत्संबंधी विषयों की पूर्व स्मृति नही लाना, वर्तमान में तद्विषयों में लीन नहीं होना तथा आगामी विषयों की कामना नहीं रखना। इनके विषयों को पूर्णत: जीतना तथा मन पर भी नियंत्रण रखना जो

सभी इन्द्रियों का राजा है, सभी इन्द्रियों को शक्ति, दिशा व दशा देने वाला होता है। इसके लिए निरंतर जिनवाणी के स्वाध्याय,ध्यान, चिंतन, तत्वचर्चा, सेवा, भक्ति करते रहना चाहिये इससे सभी तरह के भोगों से विरक्ति हो जाती है। भोगों की क्षणभंगुरता अतृप्तता का चिंतन भी वैराग्य को मजबूत करता है।

हे विज्ञ ! उक्त सभी बातों को ध्यान से समझना और -

१. कभी भावुकतावश इस पथ पर नहीं आना।

२. किसी कष्ट से छुटकारा पाने के लिये भी नहीं।

३. किसी लोभ - लालच या मान-सम्मान के लिये भी नहीं ।

४. किसी के दवाब में भी नही।

५. क्षणिक किसी की महिमा देख-सुन कर के भी सहसा प्रभावित नहीं होना।

अपितु आत्म साधना, आत्म कल्याण, कर्मों के क्षय व निर्वाण प्राप्ति के लिए जब हार्दिक और शारीरिक दृढ़ता आ जाये तब ही इस मोक्षमार्ग पर कदम बढ़ाना जिससे कभी भी प्रतिकूलताओं में, अव्यवस्थाओं में तथा कष्टों में भी अपने पथ संकल्प तथा अंतर विशुद्ध से विचलित ना हो सकें । अत: सोच-विचार कर बढ़ना ।

## ३. सोच-विचार कर बढ़ना

**सोचना** - जिस पथ पर बढ़ने के लिए हम समग्र जीवन, तन,मन,धन, कुटुम्ब परिवार को छोड़ रहे हैं उसे फिर मुड़कर भी नही देखेंगे।

**विचारना** - आपत्ति-विपत्ति,कष्टों के आने पर (अथवा आने के पूर्व) ही विचारना कि, बड़े-बड़े महापुरुषों पर भी कष्ट आये है पर वे विचलित नहीं हुए इसलिए महान कहलाये। स्वर्ण को कितना तपना पड़ा, पत्थर को कितनी चोटें खानी पड़ीं तब वह मूर्ति बन सका। हमारा विवेक पूर्वक वैराग्य रहा तो सदैव काँटों में भी गुलाब की तरह खिलते रहेंगे ।

**बढ़ना** - मोक्षमार्ग पर चलना, बढ़ना जरुर पर किसी की होड़ में नहीं

अपितु अपनी शक्ति के अनुसार ही बढ़ना। पर यह भी ध्यान रखना कि कहीं स्वेच्छा से मार्ग को परिवर्तित करने की कोशिश नहीं करना। ऐसा (शॉर्टकट) सरतलम रास्ता भी नहीं निकालना जो आगम या गुरु आज्ञा के विरुद्ध हो। किसी की शिथिलता देख दुष्प्रभावित हो संक्लेशित भी नहीं होना अपितु, उस समय ऐसा ही सोचना कि मैं यथाशक्य उसे भी धर्म-पथ पर स्थित करुँगा। बार-बार प्रयत्न करके भी मैं उसका भला ही करुँगा। फिर भी नहीं माने तो उसके कर्मोदय को ही ऐसा समझूँगा, पर उसे देख आर्त्त-रौद्र ध्यान नहीं करूँगा और ना ही उसकी निंदा या तिरस्कार आदि करुँगा। दूसरों की शिथिलता देख प्रभावित हो उसका अनुसरण भी नही करुँगा। हे ज्ञानी ! ध्यान रखना कभी -कभी लोभी, मान-सम्मान के इच्छुक, गृहस्थिक समस्याओं (आर्थिक/कर्ज/विसंवाद) से छुटकारा पाने वाले भी इस मार्ग का अनुसरण कर लेते हैं पर वे धर्मिकता के अभाव में सम्यक् धर्म-साधना ना तो कर ही पाते हैं और ना ही उसका समतामयी आनंद ले पाते है। वे तो पदार्थों की लिप्सा में संतुष्ट होते हैं या फिर अप्राप्ति में असंतुष्ट हो आर्त्त-रौद्र ध्यान करते हैं अथवा पलायन कर जाते हैं। इसके लिये सर्वप्रथम गुरु का चयन आवश्यक होता है ।

## ४. गुरु चयन/शरण/समर्पण

हे प्रबुद्ध ! गुरु चयन के विषय में कभी-कभी किन्हीं के साथ ऐसा भी होता है कि -

१. गुरु खोजने पर भी नहीं मिलते हैं।

२. मिलते हैं, जिन्हें चाहते हैं, तो वे स्वीकार नहीं करते ।

अतः या तो वह आशाओं कुंठाओं में जीता है, या फिर निराश हो अन्य की शरण लेता है।

हे अंतरात्मन् ! वीतरागी गुरु का चयन उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना कि मोक्ष या मोक्षमार्ग। क्योंकि वे सम्पूर्ण जीवन पर्यंत धर्म के मार्गदर्शक, प्रेरक एवं संचालन में संबल प्रदान करते हैं। जिनका निर्देशन जज या राजावत् ही नहीं

किन्तु भगवानवत् होता है, जिसमें फिर संशय, तर्क, किन्तु-परन्तु के लिये कोई गुंजाइश नहीं होती है। वे कैसे भी क्यों ना हों तो भी समझदार शिष्य के लिये वे महान होते हैं। उनका चयन जीवन में एक बार ही होता है, बार-बार नहीं। जिस प्रकार माता-पिता एक ही होते हैं, अनेक नहीं, उसी प्रकार गुरु भी एक ही होते हैं। गुरु का चयन किसी भीड़ या महिमा दर्शन से नहीं होता है अपितु उन्हें स्वयं निकट से देखने-जानने से ही होता है। साथ ही यह चयन किसी दूसरे के द्वारा भी नहीं किया जाता है, किन्तु स्व-विवेक से चयन करना ही सच्चा चयन कहलाता है।

एक दृष्टि से देखें तो 'गुरु चयन' शब्द ही गलत है, सत्य तो हमारा लक्ष्य एवं उपादान ही सच्चा चयन है। गुरु तो निमित्त मात्र हैं, यदि हम सही हैं तो फिर कोई कैसे भी गुरु हों, यहाँ तक पाषाण, धातु व मिट्टी के गुरु भी एकलव्य की भाँति सिद्धि में निमित्त हो सकते हैं। यदि हम गलत हैं तो फिर अच्छे से अच्छे गुरु भी हमें तार नहीं सकते। इसलिए शास्त्रों में निश्चय से अपनी आत्मा को ही सच्चा गुरु कहा है और व्यवहार में रत्नत्रयधारी को, निर्ग्रन्थ साधु को ही सच्चा गुरु कहा गया है। अतः हमें गुरु का चयन अपने पूर्ण विवेकानुसार साक्षात् निकट से अनुभव कर करना चाहिए और जो चयन कर लिया फिर उसमें अकम्प, निश्चल और निश्छल रहना चाहिए। हे योगी ! "वीतरागी निर्ग्रंथ गुरु" नाम के अक्षर ही एक मंत्रवत् हैं। गुरु तो भगवानवत् होतें है ऐसा शास्त्रों में लिखा है। उनका मिलना अनेक भवों के सम्मिलित पुण्य से ही संभव है। उनको पाने के लिए बड़ी - बड़ी त्याग तपस्याऐं की जाती हैं, अनेक जीवनों की बलिहारी दी जाती है तब कहीं किसी को कभी कदाचित् गुरु मिलते हैं, और यदि मिल गए तो अपना सौभाग्य मानो, उनकी कीमत करो उन पर श्रद्धा रखों, विनय करो, पूजा-भक्ति-सेवा करो, उनके द्वारा बताए पथ पर चलो उसमें किन्तु-परन्तु ना करो। कहा भी गया है कि -

*यह तन विष की बेल है, गुरु अमृत की खान।*
*शीश कटाये गुरु मिलें, तो भी सस्ता जान।।*

### गुरु शरण या समर्पण :

हे शुध्दात्मन् ! ज्ञानी शिष्य जिसे गुरु बनाता है फिर उनके लिए पूर्णतः समर्पित होता है, अपना सब कुछ समर्पित कर देता है और फिर प्रारम्भ होती है

उसकी समर्पण की भाषा यथा -

१. हे गुरुदेव ! बाहर का जो था मैं उसे छोड़कर आया हूँ और अब है सो वह सब आपका है। मन-वचन और तन भी आपका है। विचार/चिंतन/सोच-अब स्वतन्त्र नहीं किन्तु आपके अनुरुप ही होगा। मेरे वचन आपके ही वचनों का बिना किसी तर्क-शर्त के शब्दशः अनुसरण करेंगे। मेरा शरीर भी आपके द्वारा बतायें गयें मोक्षमार्ग का ही अनुसरण करेंगा।

२. आपके साँचे में, मैं मिट्टी के तुल्य रहूँगा । जैसा ढ़ालोंगे वैसा ही ढ़लूँगा।

३. आपके सम्मुख तो मेरा ज्ञान भी शून्य है । आपका निर्देशन ही मेरा सर्वोपरि ज्ञान है उसे यथाशक्ति ही नहीं (क्योंकि इसमें शक्ति के बाद उल्लघंन संभव है) अपितु प्राणपन से पालन करुँगा।

४. आपका कथन किसी आगम के अनुसार है या नहीं ? मैंने तो ऐसा सुना था, पढ़ा था या अन्य संघों में ऐसा -ऐसा देखा था.... इत्यादि प्रकार से कोई भी तर्क -वितर्क या विसंवाद नहीं करुँगा।

५. मैं अपने विवेक से ही पूर्ण जाग्रत अवस्था में सोच-समझ कर ही आपको स्वीकार कर रहा हूँ, शरण में आया हूँ । आप मुझे शरण प्रदान कर मेरा उद्धार करें।

**निश्चल एवं निश्छल विश्वास :**

१. मैं विश्वास के साथ आपकी हर आज्ञा/अनुशासन का पालन करुँगा।

२. कभी किसी भी परिस्थिति में उसका उल्लंघन नहीं करुँगा।

३. कभी भी किसी के द्वारा बहकावे में नहीं आऊँगा।

४. विरोधियों के विरोध से प्रभावित नहीं होऊँगा।

५. विरोधियों को किंचित् भी स्थान/प्रोत्साहन/सम्मान/समर्थन नहीं दूँगा।

६. कभी भी गुरु निंदा नहीं सुनूँगा/सुनने में आए तो यथाशक्य प्रतिकार करुँगा।

७. कभी भी छोटी - बड़ी कोई भी बात आपसे नहीं छिपाऊँगा।

८. जीवन के अंतिम क्षणों तक भी आपका साथ नहीं छोडूँगा और ना इस विषय

में कभी अपने प्रस्ताव या प्रतिकूल व्यवहार रखूँगा जिससे संघ से छूटना पड़े।

९. जब जैसी आपकी आज्ञा होगी उसके पालने में, मैं अपना सौभाग्य, पर आपसे दूर रहने पर दुर्भाग्य ही मानूँगा।

१०. यदि कभी धर्म कार्य हेतु आप कहीं भेजेंगे तो भी मैं उस कार्य को पूर्ण कर शीघ्र ही आपकी शरण में लौटकर चरणों में ही रहूँगा। गुरु चरणों से दूर होने पर दूरियाँ बढ़ जाती हैं तथा बाहरी दूरियाँ शनैः शनैः अंतरंग दूरियाँ पैदा कर देती हैं।

११. ये दूरियाँ संसार के दल – दल में फँसा देती हैं फिर उससे निकलने के लिये गुरु के सिवाय किसी का मार्गदर्शन, संबल नहीं मिलता, जिससे प्रायः प्राणी मोक्ष व मोक्षमार्ग के हेतुभूत आत्महित के सम्यक् लक्ष्य से भटक जाता है।

## ५. धर्म प्रभावना की आड़ में

भक्तों की भीड़/सेवा/प्रशंसा/प्रतिष्ठा/सम्मान/ प्रकाशन / शिष्य मंडली या फिर सभी का व्यामोह गुरु से दूर रखता है। वह दूरी में ही संतुष्ट होता है। स्वतन्त्रता को ही सच्ची धर्म साधना मानता है, भीड़ को ही धर्म प्रभावना मानता है जबकि मन उतना धर्म से प्रभावित नहीं होता है। मन में झांकें तो आर्त्त–रौद्र के सिवाय धर्मध्यान की मात्र चर्चा दिखती है, त्याग तपस्या का आडम्बर ही दिखता है। "ख्याति लाभ पूजादि चाह" की भावना और इसके लिये छल–प्रपंच , पर की बुराईयाँ,निंदा,चर्चा में रुचि, हर्ष तथा अपनी प्रतिष्ठा के खातिर येन–केन प्रकारेण दूसरों की प्रतिष्ठा गिराने में समर्थन, सहयोग दे, भोले भक्तों को अपनी ओर आकर्षित करने का दम्भ प्रारम्भ होता है। इससे धर्म दिखता तो है पर होता नहीं तथा फिर कोई रास्ता दिखाने वाला भी नहीं होता है और कोई दिखाये भी, तो वह स्वीकार नहीं होता। फिर गुरु आज्ञा भी मात्र प्रदर्शन रह जाती है, वास्तविक नहीं। कल्याण, समाधि, साधना, भक्ति का उद्देश्य मात्र चर्चा में ही रह जाता है। अतः मैं कभी गुरु चरणों से दूर नही रहूँगा नही जाऊँगा।

क्योंकि एक मात्र–

गुरु निर्देशन ही – हमारा सच्चा त्याग है।

गुरु आज्ञा ही – हमारी सच्ची साधना है।

गुरु सेवा ही – हमारी सच्ची तपस्या है।

गुरु की वृद्धि ही – हमारी सच्ची वृद्धि है।

गुरु की प्रभावना ही – हमारी सच्ची प्रभावना है।

## ६. अन्य संघों से आगत शिष्यों के प्रति आचार्यों, साधुओं के कर्तव्य

अन्य आचार्यों व साधुओं को भी पर संघस्थ साधु–साध्वियों को बिना उनके गुरु की अनुमति के अपने संघ में प्रवेश देना– शिष्य चोरी है, स्वयं की अनुशासन विहीनता है, शिष्यलोभ है, स्वार्थ है, अन्याय है। अतः सबसे पहले उनके गुरु से अनुमति लेना चाहिए इसके पश्चात् ही उन्हें अपने संघ में प्रवेश देना चाहिए।

यह भी जानना आवश्यक है कि यह शिष्य अपने गुरु या संघ को छोड़कर क्यों आया है? यह जानकारी मात्र आगत शिष्य से ही ले लेना पर्याप्त नहीं है, क्योंकि भागकर आया हुआ व्यक्ति तो कुछ भी कहेगा, अपने हिसाब की ही कहेगा, नमक–मिर्च मिलाकर ही कहेगा। अतः उसके गुरु की ओर से भी जानकारियाँ लेना आवश्यक है। संभवतः गुरु किसी के दुर्गुणों/अपराधों की जानकारी स्वयं ना दें, क्योंकि वे स्वयं अपरिस्रवी गुणों के धारी हैं, तो भी उनके संकेत को समझा जा सकता है अथवा उनके साथ रहने वाले अन्य साधकों से उसके विषय में पूछा जा सकता है।

१. यदि किसी कारणवश गुरु ने उसकी अनुशासन विहीनता पर डांट ही दिया है अथवा मृदु व्यवहार नहीं रखा है, तो उसे सम्यक् प्रकार से समझा – बुझा कर वापिस उन्हीं के पास भेजना चाहिए।

२. किसी व्यवस्था की आपूर्तिवश आया हो तो समर्थ होने पर उनके गुरु के अभिप्राय अनुसार आवश्यकता की पूर्ति करें।

३. अन्य संघ की महिमा सुन या अपने संघ की शिथिलता देख आया हो, तो भी उसे सम्यक् शिक्षा दे वापिस भेजना चाहिए।

एक स्कूल से निकलकर दूसरे स्कूल में पढ़ने के लिये वहाँ के चारित्रिक प्रमाणपत्र की आवश्यकता होती है तथा उसमें लिखा गया शब्द ''अच्छा आचरण' को देखकर ही दूसरे अच्छे स्कूलों में प्रवेश संभव होता है पर आज-कल बिना प्रमाणपत्र (केरेक्टर सर्टिफिकेट) व आचरण पत्र के गुरुकुल से पूर्ण जानकारी लिये ही संघ में प्रवेश दे देते हैं। तब तो आपका ही परिचय प्रकट हो जाता है कि आप कैसे हैं ? और जब आप ऐसे हैं तो फिर शासन की सम्यक् सेवा तथा भव्यों का सम्यक् हित कैसे कर सकेंगे? ''स्वार्थ त्याग की कठिन तपस्या'' में स्वयं ही अनुत्तीर्ण हुए तो दूसरों को उत्तीर्णता की शिक्षा कैसे दे सकेंगें ?

## ७. अन्य संघ से आगत शिष्यों के प्रति आचार्यों की सम्यक् शिक्षाऐं

कोई शिष्य अपने संघस्थ साधुओं से विसंवाद आदि के वश आया हो, तो भी उसे इस शिक्षा के साथ वापिस भेज देना चाहिए कि -

१. तुम्हें अपनी आपसी समस्या का हल आपस में ही करना उचित है।

२. आपस में समस्या हल नहीं हो सकती है तो गुरु से कहना चाहिए और बार-बार कहना चाहिए, वे कृपालु होते हैं अवश्य ही तुम्हारी सुनेंगे। यदि नहीं भी सुन रहे हों तो समझना कि इसमें अवश्य ही कोई कारण होगा या तो आपकी त्रुटियाँ उनकी दृष्टि में होंगी या फिर सामने वाला अच्छा ना हो, उसे समझाने से वह भड़क सकता हो और अशांतियाँ फैलने की संभावना हो, इस दृष्टि से गुरु शांत हों किन्तु तुम धैर्य रखो कालान्तर में अवसर आने पर वे अवश्य ही तुम्हें समझा देंगे। गुरु महान होते हैं, वे शिष्य के कष्टहारी होते हैं तथा सदैव हितचिंतक होते हैं, अपने शिष्यों की उन्नति करते हैं, उन्नति में हर्षित होते हैं। यदि नहीं भी हर्षित हो रहे हैं तो इसमें अवश्य ही कोई कारण है, पर आप उनके विषय में नकारात्मक सोच बदलो, क्योंकि नकारात्मक सोच ही उत्साह से गिराता है, मर्यादाओं से गिराता है, विनय-भक्ति से गिराता है और अंत में श्रद्धा से गिराता है, विसंवाद और विवाद बढ़ाता है,

जुगुप्सा (निंदा,ग्लानी, घृणा) लाता है और अंत में तोड़ देता है अत: नकारात्मक सोच को बदलो, छोड़ो। दुनियाँ मे ऐसे स्वार्थी लोग बहुत हैं, जो आपकी इस सोच मे ईंधन डाल और भड़का दें और दरार को दरिया बना दें। अत: तुम्हीं सोचों, विचारो, तुम स्वयं समझदार हो।

**सकारात्मक चिंतन :**

गुरु मेरे अनन्य उपकारी हैं, उनकी तरह कोई मेरा उपकारी नहीं हो सकता। उनके इस उपकार के ऋण को हर कष्टों को सहन करते हुए भी प्राणान्त तक की बेला में भी उसे चुकाया नहीं जा सकता । आज हम भावुक हो उनके विषय में गलत सोच रहे हैं, दूसरों को गलत सुना रहे हैं, यही तो हमारी भावुकता है, अज्ञानता है, कृतघ्नता है। यह कृतघ्नता ही सबसे बड़ा पाप है। इसे छोड़े बिना समस्त पापों का त्याग भी व्यर्थ है, किया गया उत्कृष्ट चारित्र पालन, तप एवं त्याग भी व्यर्थ है। काँटों में ही तो फूल खिलते हैं अत: काँटों में रहकर भी हम अपने कर्तव्यों से, कृतज्ञता से , गुरु चरणों से स्वप्न में भी दूर नहीं होंगे। हर परिस्थिति को सम्यक् सोच द्वारा बदलेंगे अथवा अपना पूर्वकृत कर्मोदय मान सहन करने में तत्पर रहेंगे। विचार करेंगे संघ या गुरु बदल लेने मात्र से कर्म तो नहीं बदल जाते हैं क्योंकि उनका संबंध तो आत्मा से है जो अपने निश्चित समय तक स्थित रहता है । जब तक हमारे ऐसे कर्मों का उदय है, तो क्यों ना क्यों उसे समता शांति से सहन करें? (क्यों हम किसी की बुराई देखें उसमें अपना उपयोग लगायें) आखिर में यह परीषह या उपसर्ग भी तो हमारी साधना में असंख्यात गुणी कर्मों की संवर निर्जरा का स्थान बनेगा। अत: विवेक पूर्ण समता को ही जगायें और विश्वास रखें-बुरे दिन स्थाई नहीं रहते एक दिन वे अवश्य ही बदलेंगे, अच्छे दिन आयेंगे। यदि हम अच्छे हैं तो उसका फल भी हमें अच्छा ही मिलेगा।

इत्यादि प्रकार से समझाने पर अवश्य ही आपकी महानता परिलक्षित होगी, शिष्य अलिप्तता, कर्तव्यनिष्ठा, जिज्ञासा, भीरुता, आगमज्ञान, न्याय प्रियता, अनुशासन, शासन भक्ति, धर्म वात्सल्य आदि अनेक गुण तत्काल में ही आपकी यशोगाथा गायेंगे और कालांतर में भी वे सभी लोग आपके ऋणी रहेंगे।

# ८. गुरु कृपा एवं योग्य शिष्यों का संग्रह

गुरुकृपा - हे ज्ञान पुंज! गुरु कृपालु होते हैं, दयालु होते हैं, शिष्यों के हित के लिए हर संभव प्रयत्न करते हैं।

**संग्रह के समय :**

१. शिष्य के परिवारजनों की एवं सामाजिक कठिनाईयाँ भी उन्हें झेलनी पड़ती हैं।

२. अनेक लोगों के ताने जैसे कि - नाम के लिये, संख्या बढ़ाने के लिये, बड़ों की बराबरी की जा रही है आदि ।

३. लालन, पालन एवं व्यवस्था में उन्हें व्यग्र(व्यस्त) होना पड़ता है।

४. पढ़ाई, कर्तव्य एवं अनुशासन की शिक्षा प्रदान करने में भी उन्हे श्रम करना पड़ता है।

५. वस्त्र, चटाई, भोजन, पुस्तक, पेन, कॉपी, अस्वस्थता में वैद्यादि का प्रबंध तथा औषधियों की भी समुचित व्यवस्था का ध्यान रखना पड़ता है।

६. वे सदैव माता-पिता की तरह चलने,उठने, बैठने, रहने आदि का पूर्णतः ध्यान रखते हैं।

७. रुष्टता-तुष्टता या उदासीनता देख सदैव समझाते हैं और शिष्यों को प्रसन्न रखते हैं।

८. कितनी बार कर्तव्य विहीनता व अनुशासन विहीनता के कारण उन्हें डाँटना भी पड़ता है।

९. जिससे कभी-कभी, किन्हीं-किन्हीं शिष्यों के द्वारा उन्हें बुराई/निंदा को भी झेलना पड़ता है।

१०. आपसी विसंवादों को सुलझाते समय भी पक्षपात जैसे तानों एवं तिरस्कारों को भी सहना होता है।

११. कभी शिष्यों की कुछ ऐसी भी अवस्था देखी जाती है कि वे गुरु के प्रति प्रतिशोधात्मक कदम भी उठा लेते हैं।

**योग्य शिष्यों का संग्रह–** गुरुओं को भी चाहिये कि यदि कोई भी शिष्य शरण प्राप्त करना चाहता है तो प्रथम उसकी आवश्यक लौकिक परीक्षा कर लें–

१. वह कहीं भावुकता वश तो नहीं प्रभावित हुआ है।

२. वह किसी विवाद से तो परेशान होकर नहीं आया है।

३. कहीं कर्जदार तो नहीं है।

४. उसके पारिवारिक महत्वपूर्ण कोई दायित्व तो ऐसे नहीं हैं जो सामाजिक दृष्टि से अनुचित हो यथा–

   १) छोटी उम्र वाली पत्नी

   २) अविवाहित संतान

५. सामाजिक अपराध तो नहीं कियें।

६. कानूनी अपराध तो नहीं कियें।

७. कोई बड़ी बीमारी से तो ग्रसित नहीं है।

८. किसी लोभ–लालच वश तो नहीं आ रहा है।

९. किसी मान –सम्मान की भावना का इच्छुक तो नहीं है।

१०. क्रोधी स्वभावी तो नहीं है।

११. भव भीरु है या नहीं।

१२. उसे लोक–लाज है या नहीं।

१३. उसे धर्म, गुरु आदि की विराधना का भय है या नहीं।

१४. गुरु आज्ञा को पालने में तर्क–वितर्क तो नहीं करता।

१५. गुरु व साधु समूह की यथोचित विनय करता है या नहीं।

१६. स्थिर रहेगा या नहीं।

१७. साधना में समर्थ है या नहीं (देह बल कैसा है?) भूख, प्यास, रोग, प्रतिकूलता, अव्यवस्थाओं, परीषह, उपसर्गों के सहन करने में सक्षम है या नहीं।

१८. उसे धर्म का ज्ञान है या नहीं अथवा ज्ञानाभ्यास का इच्छुक है या नहीं।

१९. यहाँ-वहाँ आने-जाने या कार्य करने की कोई योजना आदि तो नहीं है।

२०. गुरु, गुरुकुल को ही वो अपने अनुसार बलात ढ़ालने का प्रयास तो नहीं करेगा।

## ९. दीक्षा एवं लक्ष्य वृद्धि

हे साधक ! ध्यान रखो

१. आज जो तुम्हारे निर्मल, विशुद्ध परिणाम हैं, वे कल बदल ना जाऐ।

२. आज जो तुम्हारा अपने गुरु के प्रति गौरवपूर्ण समर्पण है वह कल बदल ना जाये.

३. आज तुम उनकी हर आज्ञा एवं निर्देश पालन की विश्वसनीय प्रतिज्ञा पूर्ण बात कह रहे हो। ऐसा ना हो कि कल तर्क-वितर्क करने लग जाओ और गुरु आज्ञा की अवहेलना, उल्लंघन करने लग जाओ।

४. उनकी आज्ञा या निर्देशन में अपनी ओर से शर्त रखने लग जाओ कि मेरी अमुक शर्त मंजूर होगी तभी आपकी आज्ञा का पालन कर आपके अनुशासन में रहूँगा।

५. सामाजिक दल-दल में फँसकर कहीं अपने पवित्र लक्ष्य से दिग्भ्रमित न हो जाओ।

६. धर्म प्रभावना की आड़ में कहीं स्वयं की प्रभावना की दुर्गंध न आ जाये।

७. कहीं दूसरे साधकों की प्रभावना देख लोकैषणा/प्रतिस्पर्धा/ईर्ष्या के सर्व संहारी भाव न जग जायें।

८. भक्तों की भीड़ में, प्रभावना की चकाचौंध में अपने परमोपकारी दीक्षा प्रदाता गुरु, हितकारी धर्म एवं कर्मों के क्षयकारी निर्वाण रुप परम लक्ष्य को न भूल जायें।

प्राय:देखा जाता है कि पिच्छिका हाथ में आते ही शिष्यों के

व्यवहार, कर्तव्यों में अंतर आ जाता है यथा–

**दीक्षा उद्देश्य :** जो प्रारंभ में उद्देश्य था कि मुझे मात्र अपनी आत्मा का कल्याण करना है, अब संसार में नहीं भटकना है, गुरु शरण में रहकर उनके द्वारा दिखाये गये पथ पर ही चलना है।

**अंतर :** दूसरों का भी कल्याण करना है, धर्म प्रभावना करना है। गुरु के पास रहने से ये संभव नहीं है, अपने कदमों पर भी खड़ा होना है।

## १०. गुरु निर्देशन में चलने बावत् वैराग्य हीन विचार

नाम, प्रतिष्ठा सम्मान एवं भक्तों की भीड़ नहीं मिलती। आहार देने वाला एवं कमण्डल लेने वाला नहीं मिलता, वैय्यावृत्ति करने वाला नहीं मिलता, पाटा/आसन नहीं मिलता, पूजा स्वतंत्र नहीं होती, लोंगो से परिचय नहीं मिलता, फोटू, पुस्तक, पत्रिका, कार्ड,पेन, बैच आदि भी अपने नाम से नहीं निकलते। आहारादि में बाद में उठना पड़ता है, अवशेष रहा सामान ही मिलता है, स्थान भी पर्याप्त नहीं मिलता है, दूसरों की सेवा करनी पड़ती है। बड़ों की विनय का बारम्बार ध्यान रखना पड़ता है, कि वे पाटे/चटाई आदि पर बैठे हैं, तो हम बैठ सकते हैं अन्यथा हमें उनकी चटाई आदि लानी पड़ेगी या अपना आसन देना पड़ेगा अथवा नीचे बैठना पड़ेगा। ऐसा नहीं किया तो शिकायत होगी,डाँट लगेगी, प्रायश्चित मिलेगा। पढ़ाई में दूसरे आगे रहते हैं हमें याद नहीं होता, क्या यही करते रहेंगे? पढ़ाई से सम्मान या भक्त लोग नहीं मिलते किंतु प्रवचन/पुस्तक/कलेंडर/बैच/पेन आदि से भक्तगण मिलते/बनते हैं।

## ११. गुरु छत्र छाया की महिमा

हे विज्ञ ! ध्यान रखो गुरु चरण से बढ़कर संसार में और कोई बड़ी वस्तु नहीं है, यह अत्यंत भाग्यशाली व्यक्ति को लाखों प्रयत्न करने पर ही मिलते हैं। गुरु के पास रहकर जो आत्म/धर्म साधना होती है वही सम्यक् साधना है। गुरु शरण में रहने वाला कभी भटकता नहीं क्योंकि उसे निरंतर गुरु सींचते रहते हैं,

संवारते रहते हैं। कभी कोई दोष, दुर्गुण आ भी जाये तो वे उसे कचड़े की भांति निकालते रहते हैं, जीवन के अंतिम लक्ष्य के संस्कार अनवरत देते रहते हैं। दोष-अपराध होने पर प्रक्षालन करते रहते हैं। परमार्थ के प्रति बढ़ने हेतु प्रोत्साहन देते रहते हैं। परीषह,उपसर्गों में समता, शक्ति का संबल देते हैं, असमर्थता में सहयोग देते हैं। संयम की रक्षा करते हैं। लक्ष्य का निरंतर स्मरण कराने वाली शिक्षा एवं अनुभव देते हैं जो कभी शास्त्रों से भी प्राप्त नहीं हो पाते हैं। यदि जीवन का अंतिम क्षण भी आ जाये तो सम्यक् सल्लेखना, समाधि करवाकर जीवन को सफल बनाते हैं।

गुरु चरण में रहने से उनका मातृवत स्नेह मिलता ही है, साथ ही मिलती है सार्वजनिक प्रतिष्ठा। फिर हर कोई, चाहे कोई मुनि संघ हो, विद्वान हो, श्रेष्ठी हो, समाज व भक्त हों वे सभी उसके भाग्य एवं पुरुषार्थ की प्रशंसा करते है।

गुरु संघ में - विनय / भक्ति/ सेवा / साधना/ सहिष्णुता एवं अनुभव परक ज्ञान से अनुपम उपलब्धियाँ होती हैं। यही तो सच्ची आत्म प्रभावना है, जो उसकी धर्म प्रभावना का अंग बन जाती है। इससे बढ़कर मुमुक्षु को क्या चाहिए?

बाहरी भीड़/गाजे-बाजे/फोटो/वीडिओ ये कोई धर्म प्रभावना नहीं किंतु वास्तविकता में ये सभी दिग्भ्रम और भव भ्रमण के ही कारण हैं। अज्ञानता वश वैराग्य हीन व्यक्ति, जिसका आत्महित का लक्ष्य सुदृढ़ नहीं होता, वह इन सब में फँस जाता है। फिर धर्म व धर्म-साधना को सम्यक् रुप संपादन न कर संसार परिभ्रमण को बढ़ा लेता है। ऐसे व्यक्तियों का फिर आग्रह होता है, कि-

## १२. सहयोग की कामना / उपसंघ में जाने का आग्रह

मेरी झूठी शिकायतें होती हैं, गलत डाँट लगती है, संघ के लोग मुझे परेशान करते हैं, मैं इनके व्यवहार को सहन नहीं कर सकता हूँ। मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है, मैं चलने में असमर्थ हूँ, यहाँ आहार सही नहीं हो पाता है। मुझे अपनी पढ़ाई करनी है, तीर्थ यात्रा करना है, मैं धर्म प्रभावना करना चाहता हूँ

आदि। मुझे किसी उपसंघ मे शामिल कर दीजिए। कितनी बार व्यक्ति स्वयं नहीं कह पाता तो दूसरों के माध्यम से प्रार्थना करवाता है अथवा गुरु आज्ञा हो तो मैं वहाँ जा सकता हूँ। कितनी बार तो ऐसा भी बोला जाता है–आर्त्त–रौद्र ध्यान में रहने की अपेक्षा गुरु को–पृथक् रहने की आज्ञा दे देना चाहिए। यदि आज्ञा नहीं देंगे तो हम उन्हें परेशान करेंगे, उनके अनुशासन का पालन नहीं करेंगे, बुराई करेंगे आदि । कुछ ही साधु ऐसे होते हैं जिन्हें गुरु स्वेच्छा से सहर्ष धर्म प्रभावना/सहयोग के लिए उपसंघों में भेजते हैं। बाकी सर्वाधिक ऐसे होते हैं जिन्हें भेजा तो नहीं गया किंतु भेजना पड़ता है। ले जाने वाले भी कुछ ऐसे ही होते है, जो स्वयं गुरु सानिध्य में तो रहना नहीं चाहते अतः अपने स्वार्थ के खातिर संघस्थ साधुओं को बहकाते हैं कि देखो संघ में रहकर उठ नहीं सकते हो। समाज का संचालन करने की कला नहीं सीख सकते हो, पढ़ाई नहीं कर सकते हो, धर्म प्रभावना नहीं कर सकते हो, समाज पर बोझ ही बने रहोगे, अपना कोई नाम नहीं बना सकोगे। पुस्तक, फोटू, पेन, बैच आदि नहीं निकलवा सकते, देखो मेरे ये सभी निकले हैं, इतने भक्त निरंतर सेवा में रहते हैं, चलो मैं ये सब तुम्हें सिखा दूँगा आदि, इस तरह कच्चे लोगों को लपेट में ले गुरु चरण छोड़ उपसंघों में जाने के लिए तैयार कर लेते हैं। अपने इस स्वार्थ की खातिर कभी–कभी गुरु से भी दुराग्रह कर शिष्य(गुरु भाई) के सहयोग की येन केन प्रकारेण कामना कर ली जाती है। जिससे उदार हृदयी गुरु निस्वार्थ भावना से अपनी सभी सुविधा , व्यवस्था,सहयोग की कामना किये बिना सहयोग प्रदान कर देते हैं। नहीं करने पर ! मैं इतना पुराना/आज्ञाशील/सेवाशील/ अनुशासित, गुरु के लिये मैंने अनेक कष्ट उठाये फिर भी गुरु हमारा ध्यान नहीं रखते, हमारे से बाद दीक्षित (छोटे) साधुओं के संघ बन गये अथवा उनको इतनी जल्दी अनुमति मिल गई थी किंतु मुझे आचार्य श्री अनुमति क्यों नहीं देते? मेरे से क्या नाराजी है? आदि ताने दिये जाते हैं और साथ सहयोग मिल जाने पर हर्षित हो जाते हैं।

सोचिये ! कही ऐसा तो नहीं है, कि जिस प्रकार दुर्भाग्यवश हम स्वयं चरण से दूर हैं वैसे ही दूसरे शिष्यों को भी दुर्भाग्य का आमंत्रण तो नहीं दे रहे हैं?

क्या आपको भरोसा है कि आपके यहाँ उसे गुरुकुली संस्कार मिल

सकेंगे? क्या आप उसकी गुरु भक्ति, समर्पण, अनुशासन एवं लक्ष्य को केंद्रित रख सकेंगे? आज जिस रुप में सहयोगी आपके साथ जा रहा है क्या उक्त गुणों में उससे बढ़कर तैयार कर सकेंगे? यदि नहीं तो आप अपने सहयोग स्वार्थ की खातिर उसकी उन्नति में अवरोधक ही बन रहे है। वह गुरु चरणों में रहता तो जरूर उन्नति कर लेता। क्या आपने उसके विषय में इस बात की तुलना या परीक्षा की, यदि हाँ, तो कितनों को उत्तीर्ण किया है। कदाचित वह वैसा न लौटा, दिग्भ्रमित होकर,अनुशासन विहीनता के साथ अथवा गुरु श्रद्धा-भक्ति को तोड़ कर लौटा तो आपने उसके हित में कौन सी शिक्षा दी? उपकार का बदला कृतज्ञता से दिया या कृतघ्नता से? अब बताइए जो शिष्य आपके पास रहकर बिगड़ चुका है, क्या गुरु उसे कभी संस्कारित कर सकेंगे? और उसे संस्कारित करने के लिए उन्हें कितनी मेहनत करनी पड़ेगी? अत: कभी भी किसी को गलत संस्कार परक शिक्षा न दें।

## १३. सहयोगी की अनुकूलताऐं-प्रतिकूलताऐं

अनुकूलता रही तो बहुत अच्छा है, अन्यथा उसके लिए कटीबद्ध किया जाता है कि- आपको मेरी विनय करना होगी, सम्मान देना होगा। मेरे आने-जाने पर खड़ा होना होगा, किसी भी कार्य के पूर्व अनुमति लेनी होगी, कोई भूल करोगे तो मैं जो प्रायश्चित (दण्ड) दूँगा उसे स्वीकार करना होगा। मेरी अनुमति के बिना गुरु को कोई पत्र सूचना-समाचार नहीं भेज सकोगे, मेरी बिना अनुमति के किसी सामग्री का आदान-प्रदान नहीं होगा। मेरी 'जय' बोलना पड़ेगी, मेरी कोई भी शिकायत गुरु से नहीं करोगे... आदि इसी तरह गुरुवत् बन उसे शिष्य की तरह रखा जाता है। कितनी बार उसे अपना बनाने के लिए गुरु व संघ की बुराईयाँ की जाती हैं। अपनी विशेषतायें बताई जाती हैं। अपने से प्रभावित लोगों द्वारा प्रशंसात्मक बातों को दुहराया जाता तथा संघ आदि से असंतुष्ट ,विरोधी व अनुशासन विहीन लोगों की पुष्टि की जाती है। उनके द्वारा प्रचारित सामग्री को देखने पढ़ने के लिए प्रेरित किया जाता है, संभ्रम लोगों को समाधान न दे शान्त रहना, उनकी बातों को ध्यान से सुनना,प्रसन्न होना, प्रशंसा

करना इन सभी चर्चाओं में इन लोगों को भी बैठा लेना जिन्हें तोड़ना चाहते हैं। उनके द्वारा खण्डन किये जाने पर उन्हें शांत कर देना, अपन को क्या करना........ आदि, आगे पीछे ऐसी ही बातों को दुहराना, चर्चा करना, एक दूसरे के द्वारा बातों को निकलवाना.... आदि। फिर शिकायत करना कि वे आपके विषय में ऐसा-ऐसा कह रहे थे। ताकि उन्हें डाँट लगे, वे गुरु की दृष्टि से गिरे, टूटें और हम उन्हें स्थान दे सकें तथा अपना बना सकें। अन्य लोगों के सामने अपनी महानता की दुहाई दे सकें, कि देखो हम कितने अच्छे हैं कि लोग उन्हें छोड़ कर मेरे पास आ रहे हैं। ऐसी ही प्रशंसा प्रशंसकों द्वारा करवाना, करने पर प्रसन्न होना, उन्हें मीठा प्रोत्साहन देना। दूसरे यदि इस रहस्य को समझ जायें और अवगत करायें कि आपको ऐसा नहीं करना चाहिए, यह तो गुरु के प्रति आपकी कृतघ्नता है, गुरु ने आपको दीक्षा दे मोक्षमार्ग रखा, आपकी प्रतिष्ठा, उन्नति हेतु उपसंघ बनाया, आप एकल विहारी न हो जाओ इसलिए आप साथ- सहयोगी दिये, विभिन्न स्थानों की समाज के समक्ष आपकी प्रशंसा की और आप उनके प्रति ऐसा सोचते हो? ऐसे विचार रखते हो? उनके सम्मुख, मंचादि पर तो प्रशंसा करते हो, दोनों टाइम उनकी भक्ति करते हो? किंतु अंतरंग से विपरीतता झलकती है। साथ सहियोगियों को गलत शिक्षा देते हो, क्या आपको ऐसा करना चाहिये ? आपसी बातें छोटों के बीच रखना चाहिए? क्या ऐसी कोई चर्चाओं में आपको इन सबको बैठाना चाहिए? क्या ये सभी बातें इन सभी को सुनाना चाहिए? क्या इनकी ऐसी बातों का प्रतिकार किये बिना सुनना चाहिए? क्या ये दुःश्रुति नहीं है? श्रावकों को दुःश्रुति त्याग का नियम दिलाया जाता है और आप लोगों को क्या इसकी छूट है? दोषवादे च मौनम्' सूत्र को रोज दुहराया जाता है वह क्या मात्र शब्द पाठ नहीं हैं ? क्या यही ''माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ'' है? क्या यह अपध्यान नहीं है? क्या इन सब बातों से कर्मों का आस्रव बंध नहीं होगा? क्या दूसरों के कर्मास्रव में आप हेतु नहीं बन रहे हो? क्या आप पत्थर की नौकावत् कार्य नहीं कर रहे हो? इन सब बातों से आप भी डूबोगे और साथ सहयोगी को भी डुबाओगे। क्या आपको आगम का ज्ञान नहीं है? या फिर ये सभी बातें मात्र प्रवचनों, शास्त्र स्वाध्याय, तत्वचर्चा तक ही रहती हैं बाद में नहीं? क्या आपकी इन सब बातों को

आज कोई समझ नहीं पाता, कह नहीं पाता तो क्या कल भी नहीं समझ पायेगा या नहीं कह पायेगा? यदि कोई समझ गया और कहने लगा तो फिर आपको कैसा लगेगा? आदि समझाये जाने पर आपको ऐसे लोग बुरे लगते हैं, आप उन्हें प्रोत्साहन के स्थान पर हतोत्साहित कर देते हो अथवा उल्टी - पट्टी पढ़ाते हो।

## प्रतिकूलता में सहयोगी की निंदा :

यदि आपकी बातों में सहयोगी शामिल नहीं हुआ तो आप उससे रुष्ट हो जाते हो, उसके साथ अच्छा व्यवहार नहीं करते हो, लोगों के सामने उसकी बुराई करते हो कि इसे हमारी प्रभावना सहन नहीं होती, ये अपनी प्रशंसा, प्रतिष्ठा चाहता है। उसके स्पष्टीकरण करने पर उसे रोक देते हो अथवा अलग से उसे डाँटते हो, निकल जाओ हमारे संघ से इत्यादि

## गुरु की भी निंदा :

आचार्य श्री ने हमारे साथ कौनसी दुश्मनी निभाई है कि ऐसे लोगों को हमारे साथ भेजा। पढ़ा-लिखा कर भेजा कि उन्हें खूब कष्ट देना, तकलीफ देना, इससे तो अच्छा था कि किसी को साथ नहीं भेजते, मना कर देते फिर हमे जैसा दिखता वैसा करते कम से कम ऐसे लोगों से तो बचते। आचार्य श्री ने हमारे साथ अच्छा नहीं किया। सहयोगी साधक आपके पास रह कर भी यही सीखे जिससे वे फिर न तो आपके पास रह पाये और न ही वे वापिस लौटकर गुरु के पास आ पाये और बाहर रहकर आप जैसे ही बन सके। सोचिए, क्या यह सब गुरु ने पढ़ाया सिखाया या आपने? उनकी सत्य आत्मा से पूछिये की यह सब आपने कब, कहाँ और किनसे सीखा। अंतरात्मा से जब वे सत्य बतायेंगे, तो फिर आपका ही नाम बतायेंगे तब आपको कैसा लगेगा। फिर क्या "स्वार्थ त्याग की कठिन तपस्या" में आप खरे दिखेंगे। फिर भी आपने गुरुजनों के समक्ष समाचार भेजा कि मैं इन्हें नहीं सम्भाल सकता हूँ आप इन्हें ऐसा आदेश दे। यदि वैसा ही आदेश दिया गया तब तो ठीक है यदि नहीं दिया गया, तो आचार्य श्री मेरी कुछ सुनते ही नहीं है, मुझे कष्ट, अशांति, अप्रभावना के बीच रखना उन्हें अच्छा लगता है। वे हमारी उन्नति नहीं चाहते, हमारी प्रभावना से उन्हें ईर्ष्या होती है कि कहीं ये हमसे आगे न

निकल जाये इसलिए इन्हें कुछ आदेश नहीं देते। अन्य लोंगो के समक्ष भी ऐसी ही बातें दुहराना कि आचार्य श्री ने ऐसे लोगों को दीक्षा दी ये दीक्षा के योग्य नहीं है, इन्हें दीक्षा नहीं देना चाहिए आदि। यदि साथ सहयोगी ने कही शिकायत कर दी कि इनकी स्वतंत्रता मे चर्या। टाईम टेबिल/स्वाध्याय आदि समय पर नहीं होता है, वे ख्याति- पूजा- लाभ में निरत रहते हैं। इनका संघ व गुरु के प्रति सम्यक् भाव नही है, ये जो भी करते है वह धर्म, संघ या गुरु की अपेक्षा अपने नाम, प्रतिष्ठा आदि के लिये अधिक करते है इत्यादि शिकायतों का पता लग जाये तो फिर इनसे रुष्ट हो जाते है और अनेक अपशब्दों के बाण छोड़ने लग जाते है। (आपने मुझे इतने समय तक सहयोग दिया इस बात को भूल जाते हैं) और लड़-झगड़ कर उन्हें संघ से निकाल देते हैं। फिर वे सहयोगी साधु या तो किसी उपसंघ की प्रार्थना करते हैं या फिर अपना स्वतंत्र संघ बनाने की।

**साथ-सहियोगियों का मूल संघ में प्रवेश क्यों नहीं :**

उपसंघों में स्वतंत्रता के संस्कार पड़ जाते हैं उन्हें बदलना बहुत कठिन होता है। अत: मूल संघ से एक बार भी पृथक् हुए साधकों को पुनः मूल संघ में स्वीकार नहीं किया जाता है।

**उपसंघ नायकों को मूल संघ में प्रवेश क्यों नहीं :**

जिनका एक बार उपसंघ बन जाता है वे ऐसे संस्कारों से प्रभावित हो जाते हैं, कि फिर पुन: वे मूल संघ में रहने की भावना नहीं रखते। मूल संघ का गुरुकुली जीवन उन्हें भारभूत लगने लगता है, यहाँ वह सेवा सम्मान नहीं मिल पाता है जो स्वतंत्रता में मिलता है। यदि किसी परिस्थितिवश वे कुछ दिन मूल संघ में रहते भी हैं तो भी अपनी स्वतंत्रता के बाहरी संस्कारो से मूल संघस्थ साधुओं को प्रभावित करते है। येन-केन-प्रकारेण उन्हें तोड़ने का प्रयास करते हैं और अंततः कुछ दिनों में किसी के साथ सहयोग मिलने पर वे स्वतंत्र हो जाते है। अत: मूलसंघ उन्हें गुरुकुली हुए बिना पुन:संघ में रहने की स्वीकृति नहीं देता।

**पृथक् पड़ोसीवत् :**

पृथक् हुए साधुगणों पर फिर गुरु का उतना डर या अनुशासन नहीं रहता

जितना कि पहले था। कहा जाता है कि "बेटे के न्यारे हो जाने पर फिर बेटा पड़ोसीवत् हो जाता है" उस पर माता-पिता का अंकुश नहीं रहता । फिर तो मात्र संकेत, सुझाव, भाग्य भरोसे ही रह जाते हैं। मान्य करें या ना करें। न करने पर भी विभिन्न कारणों से अपनी असमर्थता बतला दी जाती है अथवा स्पष्ट मना कर दिया जाता है । गुरु को तो परिस्थिति की सही जानकारी रहती नहीं हैं अतः जैसा भी कहो, गुरु को फिर उसे मान्य करना ही पड़ता है अथवा ऐसे लोगों के प्रति अपनी आज्ञा की अवहेलना के भय से उन्हें कुछ आज्ञा ही नहीं देते है। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं. जो दूसरों का उदाहरण देते हैं कि उन्होंने भी तो गुरु आज्ञा का उल्लघंन किया था, उन्हें तो गुरु ने कुछ नहीं कहा था- तो फिर हमसे ही क्यों कहते हैं इत्यादि।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो यह सोचते हैं कि कौन हमें संघ में रहना है जो हम गुरु से डरें। हमारे तो बहुत सारे भक्त हैं, व्यवस्था की कोई कमी नहीं है। यदि गुरु प्रायश्चित नहीं देंगे तो हम किसी भी आचार्य से प्रायाश्चित ले लेंगे उनसे हमारा अच्छा संबंध है वे अवश्य ही हमें प्रायश्चित दे देंगे ---- आदि।

## १४. संघ में परेशानियों के हेतु एवं तर्क - वितर्क

हे साधक ! तुम चाहते हो कि संघस्थ भैया-बहनें हमें नित्य आहार देने आयें। हमारे रुचिपूर्ण आहार की व्यवस्था बनायें। इस विषय में आचार्य श्री से कोई शिकायत न करे, ईर्ष्या न रखे । आचार्य श्री भी उन्हें कंट्रोल न करें

१. हमें उनसे या उन्हें हमसे चर्चा करने में कोई प्रतिबंध न लगाया जाये।
२. किसी भी हंसीमजाक को गलत न समझा जाये।
३. किसी भी वस्तु के आदान-प्रदान को न रोका जाये।
४. हमें उन्हें पढ़ाने का अवसर दिया जाये।

पर ध्यान रखिये। गुरु बड़े उदार हृदय वाले होते हैं। वे बहुत कुछ छूट दे सकते हैं, वे पहले छूट देते भी थे पर उसका परिणाम अच्छा नहीं निकला अतः उन्हें कंट्रोल करना पड़ा। यथा-

१. छूट देने पर - ये हमारे, ये उनके इत्यादि भेद-भाव उत्पन्न होते हैं।
२. जो हमारे हैं उनके प्रति खुशामदी के लक्षण दिखते है।
३. फिर मर्यादाऐं टूटती हैं, इष्ट आहार की व्यवस्थाऐं प्रारंभ होती हैं।
४. खुश रखने के लिए पारस्परिक ध्यान रखना, व्यवस्था बनाना, हँसी-मज़ाक या मीठी नाराजी, फिर मनाना आदि समस्याऐं खड़ी हो जाती हैं।
५. धीरे-धीरे गुटबाजी प्रारंभ होती है।
६. ऐसे लोगों को देख अन्य साधकों में ईर्ष्या उत्पन्न होती है। यदि इन्हें छूट है तो फिर हमें भी छूट दी जाये ऐसे आग्रह प्रारंभ होते हैं।
७. फिर वे प्रभावित जनों को अपनी ओर खींचने या तोड़ने का प्रयास करते हैं।
८. प्रभावित को कंट्रोल कर डाँट लगने पर दूसरे को बुरा लगता है तथा दोनों मिलकर फिर गुरु/ संघ की निंदा करने लग जाते हैं। अन्य लोगों में राग-द्वेष की बातें करते हैं।
९. कभी-कभी प्रत्यक्ष विसंवाद तक हो जाते हैं।
१०. फिर ऐसे लोगों पर गुरु द्वारा कंट्रोल करने पर भी वे चोरी छिपे चर्चा-वार्ता करते हैं। सारे कंट्रोल प्रभाव हीन हो जाते हैं।
११. कभी-कभी अनुशासन विहीनता, अक्कड़पन के साथ उन्हें जबाब तक दिये जाते हैं।
१२. ये सभी हमें गुरु की तरह सम्मान दें, भेंट दें, सेवा-भक्ति करें, ध्यान रखें ऐसी भावनाएँ जागृत होती हैं।
१३. पक्ष व्यामोह की संकीर्णता में खड़ा कर दिया जाता है।
१४. अनुशासन, शांति को भंग किया जाता है।
१५. संघ से जाने की, पृथक् संघ बनाने की या अन्य गुरु बनाने की धमकियाँ भी दी जाती हैं।

फिर गुरु की अनुशासनपूर्ण शिक्षाओं पर, कर्तव्यों पर तर्क पैदा होने लगते हैं यथा :

१. हम नहीं पढ़ा सकते तो आचार्य श्री क्यों पढ़ाते हैं ?

२. हमें आहार देने के लिए ब्रेक लगाया जाता है तो उन्हें ब्रेक क्यों नहीं ?

३. हमें चर्चा के लिए निषेध किया जाता है, तो उन्हें क्यों नहीं?

४. जब ये उनकी व्यवस्था आदि बना सकते हैं, तो फिर हमारी क्यों नहीं बनाते हैं ?

५. फिर ईर्ष्या शंका- कुशंकापूर्ण चर्चा और अनावश्यक, अनुचित, बिना सोचे विचारे प्रस्ताव प्रारंभ होते हैं तथा समर्थकों को तैयार किया जाता है कि -

अ) बूढ़े लोगों को दीक्षा न दी जाऐ।

ब) कम पढ़े लोगों को दीक्षा न दी जाऐ, इन सबको संघ में न रखा जाये।

क) माता- बहनों को दीक्षा न दी जाऐ, इन सबको संघ में न रखा जाये।

ड) शिकायत करने वालों को संघ में न रखा जाये।

पर सोचिये ! क्या वृद्ध हो जाने पर, यदि अंतिम पड़ाव पर किसी के आत्म साधना के भाव जागृत हुए हों, तो क्या वह अपना कल्याण नहीं कर सकता? फिर तो परम पूज्य रविषेणाचार्य, गुणभद्राचार्य के वचन मिथ्या हो जायेंगे कि "जिसने अंतिम समय में भी दीक्षा को धारण कर लिया तो उसका जीवन सफल है"। हाँ, यह बात अलग है कि शरीर वृद्ध भले ही हो पर साधना, उत्तम भावना, कर्तव्य, भक्ति में वृद्ध न हों।

कम पढ़े-लिखे को भी दीक्षा देने के लिये निषेध नहीं है। आगम में तो शिवभूति की दीक्षा का उल्लेख है जिन्हें १२ वर्ष में भी णमोकार मंत्र याद नहीं हुआ था। यह बात अलग है कि भले ही किसी को पुस्तकीय ज्ञान कम हो पर आज्ञा, कर्तव्य, साधना प्रधान है। भवभीरु है तो वह भी अपना कल्याण कर सकता है।

माता-बहनों को अलग नहीं किया गया तो हम विभिन्न प्रकार से तांडव

करेंगे, आदि धमकियाँ प्रारंभ होती हैं और नासमझ लोग घबड़ाकर प्रस्तावों को रखते हैं। समर्थक, समर्थन देते हैं, गुरु मान भी लेते हैं पर परिणाम क्या निकलता है? क्या वे शांत हो जाते हैं? नहीं,अपितु पृथक् हुए लोगों को और अधिक भड़का कर उन्हें तोड़ लेते हैं। उन्हें पढ़ा-सिंखा कर दुष्प्रचार कराते हैं। फिर कोई प्रस्तावक या समर्थक क्या उन्हें सम्भाल पाता है?

६. संघस्थ साधकों को तोड़ने की या अनुशासित लोगों को परेशान करने की दुष्प्रवृत्तियाँ प्रारंभ होती हैं।

७. इन सब परिस्थितियों में पक्ष-व्यामोह, स्वार्थ,अन्याय,अत्याचार, अनीति, भ्रष्टाचार जैसे अपशब्दों का प्रयोग होता है कि हम देख लेंगे कौन हमारा क्या कर सकता है और हम भी दिखा देंगे कि हम क्या-क्या कर सकते हैं? इत्यादि परिस्थितियोंको ध्यान में रखते हुए, न चाहते हुए भी कंट्रोल करना ही पड़ता है। फिर क्या विपत्ति आयेगी इसकी परवाह किये बिना वीर की भांति कठोर अनुशासन रखना ही पड़ता है ?

हाँ, इन सब बातों की यद्यपि सुपात्र जनों को छूट दी भी जा सकती है कि- वे खूब आहार दें और लें, क्लास पढ़ायें- पढ़ें, चर्चा-वार्ता भी करें, वस्तुओं का आदान - प्रदान भी करें, सूचना-समाचार भी दें पर गुरु आज्ञा से, सम्यक् मर्यादा से । निषेध करने पर उग्र न हों, जो भी बात हुई हो उसे गुरु को बतायें और गुरु जो निर्देश दें उसे शब्दशः पालन करें, उसमे किंतु- परंतु न करें, इस बात का ध्यान रखें कि किसी दूसरे को ईर्ष्या पैदा न हो जाये, उन्हें आप निस्वार्थ,सम्यक् कर्तव्य बोध की शिक्षा दें, आप हर परिस्थिति को समझने की दूरदृष्टि रखें।

इन सब कंट्रोल से आपसी भेद-भाव या विघटन नहीं होता है, होता भी है, तो अपनी-अपनी सीमा में रहता है और अनुशासन में पूर्ण मर्यादा रहती है। अन्यथा अनावश्यक भेद-भाव, विसंवाद,विवाद और विघटन की स्थितियाँ खड़ी हो जाती हैं, फिर जो जिससे प्रभावित होते हैं वे उसकी सेवा, प्रतिष्ठा प्रभावना के लिए गुरुवत् स्थान दे, गुरु तक का अनादर कर देते हैं तथा जो जिससे रुष्ट हो जाये तो वे उसकी रोषपूर्ण अवहेलना, अविनय, अनादर, निंदा, एवं

लांछन लगाने तक में पीछे नहीं रहते। अतः सभी को अपनी-अपनी सीमा में रखा जाता है।

कुछ लोगों को इससे कष्ट होता है, ईर्ष्या होती है कि जब ये सभी हम लोगों से बोल नहीं सकतीं तो फिर इन्हें आचार्य श्री से भी परहेज होना चाहिए।

पर यह छोटा विचार है आप कोई गुरु नहीं हैं। अतः आपसे परहेज रखना उचित है, पर आचार्य श्री तो गुरु हैं। उन्होंने तो उन्हें आपकी तरह संघ में प्रवेश दिया है अतः पढ़ाना-लिखाना, उन्हें मोक्षमार्ग के प्रति प्रेरित/ प्रोत्साहित करना, अनुशासन में रखना, अनुशासन में न दिखने पर कंट्रोल करना, आपसी समस्याओं को सुनना, सुलझाना यथावसर आलोचना सुनना, प्रायश्चित देना अ दे के लिए तो अवसर देना ही होगा।

## १५. प्रस्ताव अदूर दृष्टि के

कुछ लोगों के प्रस्ताव होते हैं कि माता- बहनों को संघ में ही ना रखा जाये।

किंतु यह उचित नहीं है, क्योंकि तीर्थंकरों के समवशरण में चतुर्विध संघ में इनकी भी गणना है और वह आगम तथा गुरु परंपरा से सम्मत है। वे भी अपना हित चाहती हैं, अतः धर्म साधना के लिए उन्हें भी यथोचित स्थान दिया जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि गुरु उन्हें व्रत, प्रतिमा, दीक्षा आदि तो दें पर संघ में ना रखें लेकिन-

१. उन्हें संघ में रखे बिना उनकी संयम साधना की क्षमता को कैसे समझा जा सकता है?

२. दूसरों के निर्णय को कहाँ तक मान्य कर सकते हैं?

३. बिना समझे उन्हें व्रत/प्रतिमा/दीक्षा आदि कैसे दी जा सकती है?

अथवा कोई कहते हैं-दीक्षा के पूर्व किसी आर्यिका संघ या आश्रम में रखना चाहिये, बाद में दीक्षा दे उसी संघ में वापस भेज देना चाहिए पर-

१. दीक्षा के पूर्व जिस आश्रम/संघ में उन्हें रखा जाता है वहाँ प्राय: भिन्न संस्कारों में ढाला जाता है, जिससे गुरुकुल की एकरुपता नहीं रहती।

२. पृथक् रहने वाले विरले ही संघ होते हैं, जो पूर्णत: गुरु आज्ञा/ अनुशासन/ निर्देशन में रहते हों। (इस विवेचना को पृ.२०,पृथक् पड़ोसीवत् में पढ़ें) जो स्वयं गुरु आज्ञा/निर्देशन आदि में ना हो वह साथ वालों को क्या और कितने सम्यक् संस्कार देगा।

३. देखा जाता है कि फिर वे स्वयं अपने आपको गुरु तुल्य व भेजे गये लोगों को शिष्य तुल्य मानने लगते हैं।

४. फिर तो उन्हें गुरु आज्ञा /निर्देशन/ अनुशासन में चलाने की अपेक्षा अपने ही अनुसार चलने के लिये बाध्य किया जाता है। यहाँ तक कि-फिर गुरु आज्ञा आदि पर अथवा सूचना समाचार तक पर कंट्रोल कर दिया जाता है।

५. तथा जो प्रारंभ से ही गुरु सानिध्य में नहीं रहा है फिर उसे गुरु का डर,भय भी नहीं रहता है।

६. जिसके सानिध्य में उन्हें रहना है उसको ही वह सब कुछ मान बैठता है।

७. ना फिर उसे गुरु के संस्कार मिल पाते हैं और ना गुरु उसे संस्कारित कर पाते हैं।

८. ना गुरु उसे पहचान पाते हैं और ना ही वह गुरु को पहचान पाता है।

९. जब तक आपसी अनुकूलता रही तब तक तो ठीक है अन्यथा विसंवाद और विघटन होता है, फिर गुरु के पास शिकायतें प्रारंभ होती हैं। इन्हें हम नहीं संभाल सकते या हम इनके पास नहीं रह सकते आदि, और अंत में पृथक्-पृथक् सहयोग की प्रार्थना करते है।

अब गुरु क्या करें? उनको किसी उपसंघों में भेजने को कहते हैं तो, या तो वे रहने को तैयार नहीं होतें अथवा उन्हें कोई रखने के लिये तैयार नहीं होता।

यदि कदाचित् कोई तैयार भी हो जाए तो यदि वह उनके अनुसार नहीं रहा तो उसके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया जाता और फिर विघटित हो दो से चार एकल विहारी हो जाते हैं, तथा ताने गुरु को सुनने पड़ते हैं कि गुरु ने मुझे ऐसा

सहयोग दिया। अब गुरु किस-किस को सहयोग करें, जब एक को भी सहयोग करना कठिन था तो चार को कैसे सहयोग किया जा सकता है।

## १६. सहयोग कहाँ तक उचित

१. कोई किसी के लिए तैयार होता है तो कोई किसी के लिए तैयार नहीं भी होता है।

२. कोई पहुँचता है किंतु उन्हें वो पसंद नहीं आता है।

३. कितनी बार पहुँचने वाले के, वहाँ पहुँचते ही विचार बदल जाते हैं।

४. कुछ लोगों का कहना है कि गुरु को तो आदेश दे देना चाहिए तो अवश्य ही साधुजन जायेंगे।

५. लेकिन बिना इच्छा के पहुँचाने पर उसकी गुरु भक्ति में हीन भावना पैदा हो जाती है।

६. पहुँचने पर यदि सामंजस्य (एडजेस्टिंग) नहीं हुआ तो तनाव प्रारंभ होता है।

७. कभी-कभी वापिस आने का आग्रह प्रारंभ हो जाता है।

८. यदि उसे नहीं माना तो विसंवाद व टूटन पैदा होती है।

९. मान लिया जाये तो फिर कहा जाता है कि यदि वापिस बुलाना ही था तो भेजा क्यों? नहीं भेजते तो अच्छा था, औपचारिकता (फार्मेल्टी) क्यों निभाई आदि।

१०. अब हम क्या करें, आदेश दें। किंतु जिनसे अलग हुए हैं उनके साथ कदापि नहीं रह सकते हैं।

११. उपसंघ वाले भी मुझे रखते नहीं हैं अथवा मैं किसी उपसंघ में नहीं रहना चाहता हूँ।

१२. क्या मैं आपका शिष्य/शिष्या नहीं हूँ जो कि मुझे सहयोग नहीं दिया जा रहा है।

१३. मैंने तो आपकी बहुत कुछ भक्ति, प्रभावना की/ विरोधियों के विरोध को

सहन किया, फिर भी आप मेरा कुछ भी ध्यान नहीं रखते हो।

१४. क्या मैं किसी अन्य संघ की शरण लूँ?

१५. अथवा किसी को दीक्षा दे दूँ?

१६. कुछ लोग तो ऐसी बातों की पुष्टि तक कर देते हैं कि हाँ किसी अन्य संघ में चले जाना चाहिए या फिर दीक्षा दे देना चाहिए।

## १७. सहयोग का परिणाम

उपसंघों के साधकों के आपसी विसंवादों में गुरु को झुलसना पड़ता है। यद्यपि उन्हें तो सही जानकारी नहीं रहती कि विवाद किससे, क्यों और कैसे हुआ? उन्हें तो जैसी जानकारी मिलती है तदनुसार ही वे निर्णय दे देते हैं। अत: उभय लोगों में से अवश्य ही किसी न किसी की दृष्टि में पक्षपात के रुप में देखे जाते हैं। कुछ भी सुनाई ना की जाये तो–आचार्य भी हम लोगों के विषय में कुछ सुनते नहीं हैं, हम लोगों का विसंवाद उन्हें प्रिय लगता है, अप्रभावना, टेंशन मे रखना प्रिय लगता है । और दो के विवाद में तीसरा बुरा बनता ही है।

कितनी बार तो यहाँ तक भी देखा जाता है कि आपसी तनाव इतना बढ़ जाता है कि जो समाज की दृष्टि में आ जाता है। कहीं – कहीं तो दो साधकों के विवादों में भक्तों के भी दो समूह बन जाते हैं, और वे पारस्परिक बुराईयों मे भाग ले अपनी–अपनी सफाई एवं दूसरों की बुराई करते, बताते हैं। ऐसी समस्या में गुरु को परेशानी उठानी पड़ती है, सोचा तो यह गया था कि ये लोग पृथक् रहकर धर्म साधना एवं प्रभावना करेंगे, आत्म–संतोष, शांति प्रदान करेंगे पर वे तो अशांति को ही जन्म देते हैं।

कभी – कभी आपसी तना–तनी के कारण पृथक् हो जाते हैं और दोनों सहयोग की प्रार्थना करते हैं, पर गुरु सहयोग भी दें तो कितनी बार दे सकते हैं फिर भी करुणाशील हो सहयोग देते हैं। यहाँ तक कितने साधकों के उदाहरण हैं कि उन्हें ७–८ बार भी सहयोग प्रदान किया गया पर उनके यहाँ से वापिस लौटकर कोई नहीं आया और न ही अनुशासित रह सके, यहाँ तक कि जिस गुरु श्रद्धा–

भक्ति, समर्पण के साथ गये थे उसे भी खो बैठे। अथवा इनके कारण कितने साधकों के परवशता में उपसंघ बनाने पड़ते हैं, फिर भी भाषा में कृतज्ञता नहीं आ पाती और अंत में दीक्षाऐं देने की प्रार्थना होती है।

## १८. दीक्षाऐं देने की इच्छाऐं

आचार्य संघ से जो साधकगण आते हैं वे सभी गुरु भ्रातृवत् रहते हैं, हमारी आज्ञा व अनुशासन का पालन नहीं करते हैं, कुछ दिनों साथ रह अपने कदम पर खड़े हो जाने पर पृथक् हो जाते हैं, अथवा हमें ही अपने अनुसार चलाने लग जाते हैं, नहीं मानो तो फिर परेशान करते हैं, जवाब देते हैं, प्रवचन, क्लास, स्वाध्याय, आदि हर कार्य में बराबरी चाहते हैं, साथ ही गुरु तक हमारी शिकायतें भेजते हैं। हमारी प्रभावना, प्रतिष्ठा आदि में अवरोधक बनते हैं। अत: बार-बार संघ सहयोगियों को बदलने की अपेक्षा अब आचार्य श्री मुझे ही दीक्षा देने की अनुमति दे दें तो ठीक रहेगा।

## १९. पदैषणाऐं

फिर कुछ साधुगणों की प्रार्थना होती है कि अमुक-अमुक संघ में साधुओं को इतनी जल्दी आचार्य,उपाध्याय आदि पद मिल गये, मुझे तो इतने वर्ष हो गये किंतु अभी तक मेरे विषय में कुछ भी नहीं सोचा गया।

अथवा अमुक आचार्य मुझे पद प्रदान की कह रहे थे, मैंने तो मात्र अपने गुरु की गरिमा को ध्यान में रखते हुए ही उसे स्वीकार नहीं किया आपकी क्या आज्ञा है। अमुक साधुओं को अमुक आचार्यों ने पद दिये थे। आप नहीं दोगे तो उनसे ले लेंगे, पद पाने के लिए दूसरों को गुरु बना लेंगे, अपनी प्रतिष्ठा के खातिर आपको ही बुरा बनायेंगे। आपने सोचा-विचारी में देरी की है इसलिये आज ऐसा माहौल खड़ा हुआ है, यदि आप तुरंत पद आदि दे देते तो आज ऐसा नहीं होता। आचार्य श्री पद देने की कहते तो हैं पर देते क्यों नहीं ?

## २०. समस्या

समस्या पद योग्यता के अभाव की है इसलिये देरी है।

किंतु जब दूसरो द्वारा पद दिया जाता है या दे दिया गया तो अमुक-अमुक शिष्य टूट गये। वे भी अपनी सफाई रखने के लिए गुरु पर ही दोष मढ़ते हैं, फिर जनता तो भोली है वह और कुछ तो नहीं जानती, वह तो मात्र इतना ही जानती है कि पूर्व में भी कुछ साधु इन्हें भला बुरा कहते थे। अब ये लोग भी उन्हीं की बातों को दुहरा रहे हैं, अवश्य ही दाल में कुछ काला है आदि,पर सत्य स्थिति को नहीं समझ पाती है।

कभी कोई पद देने का समर्थन करते, तो कोई ना देने का समर्थन करते हैं। पद देने के समर्थन अधिक दिखते हैं, निषेध करने वाले कम और जो निषेध करता है वह बुरा माना जाता है, उसकी खुले मंच से बुराई की जाती, सम्मान नहीं दिया जाता है।

संघ में आचार्य एक ही होना चाहिए, उन्हें ही दीक्षा एवं प्रायश्चित देने का अधिकार होना चाहिए, शेष को नहीं यही संघ संगठन का सम्यक् सूत्र है। इससे सभी एक ही निर्देशन व अनुशासन में रह सकते हैं और सम्यक् प्रकार से जिनशासन, संघ एवं समाज की मर्यादा रख सकते हैं। पर अलग-अलग आचार्य होने पर संगठन का प्रदर्शन तो रह सकता है, सत्यता नहीं।

आगम की आज्ञा भी ऐसी ही है। हाँ, व्यवस्था में सुयोग्य व ज्येष्ठ साधकों को हाथ बटाना चाहिए, तदनुसार पंच पद (आचार्य, उपाध्याय,गणधर, स्थिविर, प्रवर्तक) का विधान है। पर आगम की मर्यादा का उल्लंघन कर संघ संचालन में सहयोग ना कर गुरु को बलात् पद देने के लिए प्रेरित करना या अपने-अपने शिष्यों को दीक्षा देने की अनुमति देने के लिये बलात् बाध्य करना कदापि ठीक नहीं है।

## २१. आवश्यक योग्यतायें

१. आचार्य पद के लिए दीर्घ साधना का अनुभव।
२. गुरु चरणों में रहकर शिक्षा, दीक्षा, प्रायश्चित, आदान-प्रदान का अनुभव।
३. संघ संचालन की क्षमता।
४. शिष्यों को संभालने की योग्यता।
५. प्रायश्चित ग्रंथों का अभ्यास।
६. जिनशासन को अक्षुण्य बनाये रखने में योगदान।
७. धर्म, गुरु, संघ की गरिमा में ही अपनी गरिमा है ऐसा समर्पण।
८. आज्ञा, अनुमति, विनय के संस्कार।
९. आचार्य परंपरा की अनुपालना।
१०. भव-भीरुता, पद अलिप्तता, निस्पृहता, शासन-सेवा, निराभिमानता... आदि।

कभी-कभी ऐसे भक्त भी मिल जाते हैं जो गुरु - शिष्य की दूरियाँ भी बढ़ा देते हैं। यहाँ तक कि अपनी अंध भक्ति से प्रभावित कर तोड़ देते हैं। ध्यान रखना-तोड़ना आसान है पर जोड़ना कठिन है। अत: ''तोड़ना नहीं जोड़ना सीखो'' और इसके लिये ''कैंची नहीं सुई बनो'' क्योंकि एक बार टूट जाने पर फिर वैसा ही जुड़ पाना कठिन होता है। अत: जितनी मेहनत हम तोड़ने या टूटने के समर्थन में करते हैं, उतनी यदि जोड़ने या जुड़ने के समर्थन में करने लगे तो फिर उस भक्ति का रुप ही कुछ और होगा।

## २२. टूटने के मुख्य कारण

१. जो हम स्वयं करना चाहते हैं, उसकी पूर्ति ना होने पर .........
२. जैसा हम दूसरों को चलाना चाहते हैं उनके वैसा स्वयं ना चलने पर या फिर-

अ) जैसा गुरु हमें चलाना चाहते हैं उनके वैसा स्वयं ना चलने पर अथवा

ब) हम गुरु को जैसा चलाना चाहते हैं उनके वैसा ना चलने पर या वैसा ना दिखने पर विद्वतजनों को चाहिए कि वे कभी भी, किसी भी साधकों को अपनी-अपनी पंथ/ परंपराओं, संकीर्णताओं की ओर नही खींचें/और ना ही उन्हें इसके दल-दल में फंसायें तथा उन्हें ऐसी गलत सलाह भी नहीं देना चाहिए कि आप तो ऐसा ही करें और अपने गुरु या संघ के लिये भी इसी प्रकार से प्रेरित करें। यदि वे (आपके लिये) ऐसा करने को तैयार ना हों और आपको रोकें तो उन्हें छोड़ देना चाहिए या गुरु बदल लेना चाहिए, उनके विरोध में खड़े हो जाना चाहिए आदि, विद्वतजन ऐसी सलाह कदापि ना दें।

क्योंकि, ऐसा करने से संघ परंपराएँ, अनुशासन, विनय-भक्ति के स्तर गिरेंगे। आपसी तनाव, खींचातानी, संघ-विसंवाद, विवाद एवं समाज विघटन के हेतु बनेंगे।

## २३. गुरु के अनुसार चलने या नहीं चलने से लाभ-हानि

हे अंतेवासिन्! गुरुकुल सदैव गुरु के अनुसार चलता है, क्योंकि वे गुरु हैं इसलिये गुरुकुल नाम सार्थक है। जिस दिन से गुरुकुल शिष्य के अनुसार चलने लग जायेंगे उस दिन से फिर वे गुरुकुल नहीं किंतु शिष्यकुल कहलाने लगेंगे। किंतु आज तक कहीं भी शिष्यकुल नाम ना तो पढ़ने में आया है और ना ही सुनने में और ना कहीं देखने में आया है। गुरु ज्येष्ठ हैं शिष्य ज्येष्ठ नहीं है, गुरु ज्ञानी हैं- शिष्य कितने भी शास्त्र पढ़ ले फिर भी गुरु के बराबर ज्ञानी नहीं हो सकता क्योंकि पुस्तकीय ज्ञान से बड़ा, अनुभव ज्ञान होता है। गुरु को विभिन्न संघों का, परिस्थितियों का अनुभव है, उनकी बराबरी शिष्य कभी नहीं कर सकता है। उन्हें अपने गुरु या प्राचीन आचार्यों के संघ संचालन की विधि निकट से देखने मिली है, वे दूरदृष्टा हैं अर्थात् बहुत दूर की बातों को सोच लेते हैं कि आगे क्या होगा, और अपने संघ को कैसे चलाना चाहिए।

रक्षाबंधन की कहानी में स्पष्ट पढ़ा/कहा है कि अंकपनाचार्य ने अपनी दूरदृष्टि से उज्जैयनी नगरी में यह समझ लिया था कि संघ के ऊपर कोई उपसर्ग होने

की संभावना है, अत: साधकगण मौन रहें। सभी साधक, क्यों? कैसे?कब? आदि तर्क-वितर्क में ना पड़ कर उनके सभी शिष्य गुरु आज्ञा मान मौन हो गये थे। श्रुतसागर नाम के मुनि महाराज आहार से लौट रहे थें, उन्हें गुरु आज्ञा का पता ना था, अत: उन्होंने धर्म विद्वेषी मांत्रियों से शास्त्रार्थ कर विजय पाई। यह सब तात्कालिक दृष्टि से भले ही अच्छा हो पर दूरदृष्टि वाले गुरु की दृष्टि से अच्छा न था, अत: उन्होंने उन्हें वहीं जाकर रात भर कायोत्सर्ग से खड़े रहने का आदेश दिया। पुराण ग्रंथों में ऐसे अनेकों दृष्टान्त पढ़ने मिलते हैं।

समर्थकों को भी चाहिए कि समर्थन गुरुकुल विहीन व्यक्तियों को ना दें अन्यथा आप किन-किन को समर्थन दोगे, आपका लेबल बना ही रहेगा और इन सबसे, तानाशाही में प्राय: भावुक व्यक्ति गलत कदम तो उठा लेते हैं किंतु अंत में उन्हें पछताना पड़ता है। आसक्ति समाप्त नहीं किंतु ज्यों की त्यों रहेगी अथवा और भी बढ़ेगी जिससे विघटन होगा और आप भी विघटनवादी अशांतिपूर्ण वातावरण में खड़े हो जाओगे। अत: जितना समर्थन तुम उन्हें देते हो उतना यदि अनुशासन को, गुरुकुल को दोगे तो अनुशासन की पुष्टि होगी, शांति एवं संगठन बढ़ेगा जो आपके, उसके एवं गुरुकुल के, सबके हित में होगा।

वर्तमान में भी परम पूज्य आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज का उदाहरण है, जब वे राजाखेड़ा(राजस्थान) में थे। साधुगण सामयिक में बैठ चुके थे। दूरदृष्टा आचार्य महाराज ने आदेश दिया कि, सभी साधुगण अंदर से ही सामायिक करें जिसे साधुओं ने किंतु-परंतु ना कर सहर्ष स्वीकार किया और अंदर बैठ गये। जिससे बहुत बड़ा उपसर्ग टल गया। अत: गुरु आज्ञा, निर्देशन में कभी तर्क - वितर्क ना करें, यही शिष्य की समझदारी है। ड्राइवर की तरह उन्हें अपने संघ रुपी ट्रेन/मोटर को अपने अनुसार चलाने दें। यह भी सत्य है कि गाड़ी चलेगी उन्हीं के अनुसार क्योंकि उन्हें ही चलाना है, उनका संघ है। तुम उसमें बैठना चाहो तो सहर्ष बैठो अन्यथा पहले से ही मत बैठो अथवा उतर जाओ, किंतु गाड़ी तो ड्राईवर के अनुसार ही चलेगी। क्योकि वे अभी उसके संचालक हैं, हाँ आपको कोई बात गलत समझ में आये तो आप संकेत दे सकते हैं । वे यदि उसकी उपयोगिता मानेंगे तो स्वीकार करेंगे अन्यथा आपके प्रस्ताव को गौण कर

हो, इसमें किसी प्रकार का दुराग्रह नहीं हो सकता है। यहाँ भी पूर्व बात ही लागू होगी कि तुम्हें इन सब बातों का पूर्व से विचार कर ही बैठना चाहिए, चूँकि आप बैठ चुके हो और गाड़ी चल चुकी है। चलती हुई गाड़ी से तो उतरना भी संभव नहीं है, अतः उतरने की शांति से प्रार्थना कीजिये। हो सकता है वह ड्राईवर आपकी शांत प्रार्थना से प्रभावित हो गाड़ी खड़ी कर दे और आप शांति से उतर जायें। आप भी खुश और वो भी खुश यही बुद्धि की चतुराई है। इस बुद्धिमानी से सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि कदाचित् कभी तुम्हें उसी गाड़ी से ही जाने की आवश्यकता पड़ जाये, दूसरा कोई साधन संभव ना हो तो वह पुनः स्थान दे सकेगा और अपको बैठा सकेगा।

किंतु यदि आपने कभी चलती गाड़ी में तानाशाही की तब या तो वह गन्तव्य तक पहुँचे बिना खड़ी ही नहीं होगी अथवा तुम्हें चलती हुई गाड़ी से कूदना पड़ेगा जिससे बेमौत की मौत हो जायेगी अथवा हाथ-पैर टूटेंगे। आपके अज्ञानता भरे इस कृत्य की हंसी, बदनामी ही होगी। भविष्य में फिर कभी वह ड्राइवर किसी भी परिस्थिति में आपको अपनी गाड़ी में बैठायेगा नहीं, कदाचित् किसी अन्य गाड़ी के ड्राइवर को आपके तानाशाही स्वभाव का पता चल जाये तो वह भी अपनी गाड़ी में बैठाने से इंकार कर देगा। सोचिये फिर कैसा लगेगा? तब अपने कृत्य पर पश्चाताप होगा कि नहीं? होगा, तो फिर कदापि किसी भी ड्राइवर को अपना दुराग्रह पूर्ण प्रस्ताव ना रखें अथवा जब आप स्वयं ड्राइवर बनें तब अपनी गाड़ी चलाते वक्त उक्त सभी बातों का ध्यान रखें यही समझदारी है। किसी भी गाड़ी के ड्राइवर को सुझाव तो दे सकते हो पर चला नहीं सकते।

ड्राइवर भी जहाँ तक जितना आवश्यक होगा प्रस्ताव को सुन समझ व स्वीकार कर सकता है पर अनावश्यक नहीं। इसका निर्णय वह स्वयं ही स्व-विवेक से करता है। अतः यदि वह आपके प्रस्तावों को उचित ना माने तो उक्त बातों का ही ध्यान रखे किंतु तानाशाही प्रकृति से कूदने का प्रयत्न कदापि ना करें। ऐसा करने से ड्राइवर को नहीं किंतु आपको ही चोट आयेगी, अतः गुरुकुल को अपने अनुसार नहीं चलाये और ना ही गुरुकुल के प्रतिकूल चलें।

आप सोचते हैं कि हम गुरुकुल के भक्त निरंतर उसकी प्रशंसा प्रतिष्ठा

देखना चाहते है, उन्नति देखना चाहते हैं। तो प्रथम इस बात का ध्यान रखिए कि हमारी प्रवृत्ति ही कहीं कल गुरुकुल के लिये हानि या बदनामी के रुप में तो खड़ा नहीं कर देगी? यदि हाँ, तो गुरु (ड्राइवर) तुम्हारी इन सब परिस्थितियों को दूरदृष्टि से देख व जान रहे हैं इसलिये तुम्हारे प्रस्ताव को स्वीकार नहीं कर रहे हैं।

यदि सभी के प्रस्तावों को स्वीकार करने लग जाये तो ड्राईवर कभी भी अपनी गाड़ी को सम्यक् रुप से नहीं चला सकेगा या तो चलेगी ही नहीं या कहीं भी घटनाग्रस्त हो जायेगी क्योंकि कहा भी गया है – ''विनश्यंति बहुनायका:'' इसलिये वे सुनते सभी की है किंतु जैसा उनका स्व–विवेक बोलता है, वैसा ही करते हैं।

दूसरी बात, यदि तुम्हारे प्रस्तावों को मान्य किया जायेगा तो फिर दूसरे दिन तुम दूसरा प्रस्ताव रखोगे, परसों तीसरा....। दूसरे भी उसका अनुसरण करेंगे और अंत में अशांतियाँ दुर्निवार हो जायेगी, अत: वे किन्हीं भी प्रस्तावकों के प्रस्ताव को सुनकर स्व–विवेक से ही निर्णय लेकर चलते हैं।

अत: हे प्राज्ञ! ध्यान दें गुरुकुल को अपने अनुसार नहीं और ना ही गुरुकुल के प्रतिकूल चलने में तेरा भला हो सकता है। इससे तो टूटना ही टूटना होगा, अपितु तेरा भला इसी में है कि तू स्वयं ही गुरुकुल के अनुसार चल। और दूसरों को भी इसी पथ पर चलने के लिए प्रेरित कर क्योंकि–

१. जिसे स्वगुरु से तोड़ा गया है कोई भरोसा नहीं उसे कोई गुरु शरण दे।
२. बिना गुरु अनुमति के शरण देने पर शरणार्थी या शरणदाता की वह प्रतिष्ठा फिर नहीं रहती जो कि पूर्व में थी।
३. शरणार्थी को फिर भगोड़े कहा जाता है।

जो एक बाप का नहीं हुआ वह दूसरे बाप का कैसे हो सकता है। और शरणदाता को शिष्यों के भूखे, शिष्य चोर आदि कहा जाता है।

इन सबका प्रभाव कि आपसी वात्सल्य भाव टूटता है, मर्यादाऐं टूटती हैं, फिर कोई शिष्यों के भूखे, शिष्यों को तोड़ने में तत्पर हो जाते हैं।

अनुशासन विहीन शिष्य फिर ऐसे लोगों का फायदा उठाते हैं। और आज कहीं, तो कल कहीं। फिर उन पर कोई कंट्रोल नहीं रहता है। अनुशासन विहीन शिष्य फिर संघ या समाज में खराबियाँ ही पैदा करते हैं, जिनसे श्रमण

संस्कृति बदनामित होती है। संघ व समाज को अनेकों कष्ट झेलने पड़ते हैं, और फिर ऐसे ही लोगों का अन्य भी ऐसे ही लोग अनुसरण कर दुर्निवार परिस्थितियों को खड़ा कर देते हैं कि फिर इन सब परिस्थितियों को देख उन्हें भी गहन पश्चाताप होता है।

अत: कभी भी साधु संघों, विद्वतजनों या भक्तों को विघटनवादी, विसंवादी न तो सलाह ही देना चाहिए और ना ही समर्थन। कुछ लोगों का सोचना है, कि कहीं आगमानुकूल चर्या ना हो तो ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए?

तो उसका इतना ही समाधान है, कि हमें चाहिए कि हम दूसरों की समीक्षा की अपेक्षा स्वयं की चर्या आगमानुकूल रखें। प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्र परिणति पर तथा होनहार पर विश्वास रखते हुए समता रखें।

यदि फिर भी यह सब संभव ना हो तो अपनी कुशलता से, शांतिपूर्ण वातावरण से पृथक् ऐसा पथ अपनायें कि फिर जिसके पश्चात् पारस्परिक दोषारोपण की वर्षा के कष्टों को समाज या संघ को ना झेलना पड़े। आपसी गंदगी आपस में ही रखें, समाज को उससे क्या लेना-देना। समाज को तो दोनों की ही सेवा करनी है, अत: उसे इससे प्रभावित ना करें।

अथवा किसी की पारस्परिक बुराईयाँ सुनने के पश्चात् स्वयं उसकी अन्वेषणा करें कि क्या वास्तविकता में ऐसी बुराई है भी कि नहीं? कहीं इसके बीच खड़े हुए लोगों में पार्टी बंदी तो नहीं है, यदि है तो उसे भी समझने का प्रयास करें। दोनों तरफ से समझने के पश्चात् ही अपने पूर्ण विवेक से उसे सुलझाने का सम्यक् प्रयास करें, यही सभी के हित में है। अर्थ, मान-सम्मान, पक्ष व्यामोहता अथवा मैं जिस पक्ष के विषय में बोलूँगा तो इतर पक्ष हमारे से दुश्मनी निकालेगा। मेरे ऊपर भी पंप्लेट बाजी करेगा, मुझे अपमानित करेगा, प्रताड़ित करेगा आदि भय से तो आपकी न्याय-प्रियता नहीं रहेगी, आपके निर्णय बदलते रहेंगे और आप सभी जगह से पराजित हो उत्तेजना तो जगा सकेंगे पर समस्या का हल नहीं कर सकेंगे। अत: ऐसी परिस्थिति की संभावना में तो फिर आपको दूर बैठकर चुप रहना ही श्रेष्ठ है। कम से कम आपके द्वारा समस्या का हल नहीं हो सका तो वह बढ़ेगी तो नहीं और आप तो लपेट में नहीं आओगे।

# २४. सहयोग का परिणाम पश्चाताप/गुरु चरण से दूर व निकट रहने का प्रभाव

कितनी बार ऐसा भी देखा जाता है कितने ही सहायक साधुगण भले ही उत्साह से चले तो जाते हैं, पर बाहर जाने पर गुरु या संघ की याद आती है। फिर सोचते हैं –

१. जो परेशानियाँ संघ में थीं वे यहाँ पर भी हैं, अपितु यहाँ तो कुछ अधिक ही समझ में आ रही हैं।

२. संघ में स्वास्थ्य आदि खराब होने पर अनेक साधुगण सेवा करते थें। पूछते थे/पास में आते थे / बैठते थे, यहाँ तो हम अकेले ही हैं।

३. मूड खराब होने पर संघ में अनेक लोग संबोधन देते थें।

४. किसी से विसंवाद होने पर भी अन्य साधकों के पास बैठने से, चर्चाओं से मन प्रसन्न हो जाता था।

५. वे लोग विसंवाद को शीघ्र ही हल कर देते थें।

६. बड़े लोगों को भी गुरुदेव उनकी गलती बता उन्हें डाँट देते थें, कंट्रोल कर लेते थें, यहाँ पर तो अब उन्हें कोई कंट्रोल करने वाला नहीं है।

७. जो भी कुछ कहता है तो उसे चार बातें सुननी पड़ती हैं।

८. प्रसन्न रखने के लिये निरंतर खुशामद करनी पड़ती है। इतनी तो हमने अपने संघ में गुरु तक की खुशामद नहीं की।

९. निरंतर गुरु की तरह सेवा-भक्ति करनी पड़ती है।

१०. आज्ञा, अनुशासन का पालन करना पड़ता है।

११. कभी-कभी तो इनकी आज्ञा व अनुशासन के समक्ष अपने पूज्य गुरुदेव की भी आज्ञा व अनुशासन का उल्लंघन करना पड़ता है।

१२. यहाँ खुशामद से सुविधायें तो मिलती हैं, किंतु आत्महित के सम्यक् सूत्र नहीं मिलते। संघ में गुरु निरंतर आत्म साधना के सूत्र देते रहते थे।

१३. यहाँ तात्कालिक या व्यक्तिगत अनुभव तो मिलता है किंतु संघ में गुरु के द्वारा

दिया जाने वाला दीर्घकालीन या गुरुणामगुरु का तथा अन्य संघों का अनुभव मिलता था, वह यहाँ नहीं मिलता है।

१४. किसी त्रुटि की जानकारी संघ में तत्काल मिलती थी, पर यहाँ नहीं मिलती।

१५. गुरु के पास किसी भी त्रुटि का तत्काल प्रायश्चित लेकर शुद्ध हो जाते थें, पर वह शुद्धि यहाँ कहाँ?

१६. गुरु के पास जो संस्कार गुरुकुल के मिलते थे, वे यहाँ कहाँ? यहीं कारण है, कि फिर संघ में जाने के लिए घबराहट उत्पन्न होती है, चाहते हुए भी साहस नहीं हो पाता।

१७. इन बातों से गुरु का जो विश्वास, वात्सल्य भरा व्यवहार मिलता था,उसमें कमी ही आती जाती है।

१८. हमारे श्रद्धा, भक्ति, समर्पण के संस्कार में भी कमी ही होती जाती है।

१९. कहीं ये गुरु के पास जाने के लिये तैयार ना हो जायें, अत: गुरु सानिध्य की महिमा को भी ये नहीं बताते।

२०. अपितु ऐसी बातें सुनाते हैं तथा याद कराकर हमारी स्मृति से भी खुदेड़ - खुदेड़ कर निकलवाते हैं ताकि इनका मन गुरुकुल में जाने का ना हो/ या हमें छोड़ने का ना हो सके।

२१. कभी-कभी खुशामदी लोगों को इतना खुश कर देते हैं या हर तरह की छूट दे देते हैं कि फिर उसका मन सहज ही संघ में जाने का नहीं होता है।

२२. लेकिन यह सब तभी तक, जब तक कि आपसी वैचारिक प्रेम, वात्सल्य रहा, अनुकूलता रही।

२३. प्रतिकूलता में फिर व्यवहार बदलता है, भाषा बदलती है, ध्यान रखने के तरीके बदलते हैं। आपसी विसंवाद व प्रताड़नायें प्रारंभ होती हैं जिसके संकेत गृहस्थों तक को मिलने लग जाते हैं।

२४. फिर अपनी सफाई और दूसरे की बुराईयाँ पैदा होती हैं।

२५. दो के विसंवाद में प्राय: तीसरे को भी पिसना पड़ता है।

२६. कितनी बार इन्हीं सब बातों से भक्तों व समाज तक में दो पक्ष खड़े हो जाते हैं।

२७. आपसी विसंवादों में गुरु, संघ व धर्म तक की मर्यादा तोड़ दी जाती है।

२८. गुरु की आज्ञा, निर्देशन का भी उल्लंघन कर दिया जाता है।

२९. कितनी बार गुरु कुछ बोले और वह जिनके अनुकूल ना रहा, तो फिर उन्हें (गुरु) ही पक्ष व्यामोह में खड़ा कर दिया जाता है।

३०. यदि कुछ ना कहें तो-आचार्य श्री कुछ कहते नहीं, उन्हें हम लोगों के विसंवाद अच्छे लगते हैं।

३१. वे हमारी प्रभावना को धोना चाहते हैं, इसलिये शांत बैठे हैं।

३२. अब हम कभी भी संघ में नहीं जाएंगे, उन्हें हम से कोई मतलब नहीं तो हमें भी उनसे कोई मतलब नहीं। हमने उनके लिए इतने-इतने कष्ट सहन किये, लोगों से बुराई मोल ली, फिर भी वो हमारा ध्यान नहीं रखते तो अब आज से हम भी उनका ध्यान नहीं रखेंगे।

३३. अब हम उनकी विशेष भक्ति या प्रभावनात्मक कार्य नहीं करेंगे।

३४. पत्रिका मे फोटू,नाम, नहीं देंगे, जयकारा नहीं बोलेंगे।

३५. दूसरे संघ में चले जाएंगे।

३६. दूसरे को गुरु बना लेंगे।

३७. हम संघ संबंधी किसी भी कार्य में भाग नहीं लेंगे।

बाहर जाकर प्राय: आचार्य श्री के निकटवर्ती भक्तों से सेवा - व्यवस्था,प्रकाशन आदि हेतु प्रथम उन्हें गुरु की प्रशंसा कर हाथ में लिया जाता है।

तत्-तत् स्थानों में ही विहार किया जाता है, जहाँ कि गुरु का प्रभाव है ताकि हमें ये सभी अपने संघ का समझ, सेवा-व्यवस्था आदि में जुट जायें। प्रारंभ में घुसपैठ होती है, बाद में अपने स्वार्थ के खातिर अनुकूल लोगों के समक्ष गुरु भक्ति की बातें तथा प्रतिकूल लोगों के समक्ष प्रतिकूलता

की बातें प्रारंभ की जाती हैं और उन्हें या वहाँ की समाज को गुरु या गुरुभक्ति से तोड़ा जाता है। समाज तो प्राय: भोली होती है वह इन सब बातों से प्रभावित हो जाती है। हाँ, जहाँ की समाज, भक्त, समझदार या दूरदृष्टा होती है, तो वे लोग सविनय उनसे ऐसा ना करने की प्रार्थना करते हैं, इस कारण कितनी बार उन्हें भी प्रताड़ना सहनी पड़ती है अथवा उनको हतोत्साहित किया जाता है अथवा ऐसे स्थान से शीघ्र ही विहार करवा दिया जाता है अथवा वहाँ प्रवेश ही नहीं करने दिया जाता है।

३८. ऐसी परिस्थिति में सहयोगी का प्रथमत: तो संघ में आने का मन ही नहीं होता है और यदि हो भी जाये तो फिर वह घबड़ाता है कि अब मैं क्या करुँ? कैसे जाऊँ आदि।

३९. कोई यदि मन बना भी ले तो उसके स्वतंत्रता के संस्कारवश संघ में प्रवेश ही नहीं दिया जाता है, क्योंकि गुरुजन भी सोचते हैं कि स्वच्छंदता की बीमारी कहीं अन्य साधकों को न लग जाये। अत: उपसंघों में ही परिवर्तित होने की सलाह देते हैं, संघ में प्रवेश नहीं देते हैं।

४०. यदि प्रवेश दिया भी जाये तो फिर आगंतुक अपनी प्रशंसा किये बिना रहता ही नहीं, कि वहाँ हम ऐसे थे, हमारे इतने भक्त थे, हमारी इतनी सेवा होती थी, हमारी इतनी प्रभावना थी, हर तरह से खुश थे आदि। इन सब बातों से कच्चे वैरागी के मन डिगते हैं, प्रभावित होते हैं या प्रभावित किया जाता है।

४१. प्रारंभ में सम्मान, सेवा, वात्सल्य दिया जाता है फिर ग्रुप बना लिया जाता है और फिर ऐसा वातावरण उत्पन्न कर लिया जाता है कि फिर गुरु को परवशता में स्वीकृति देनी ही पड़ती है।

४२. फिर वही श्रृंखला तैयार होती है जो इनके साथ हुई थी, वही संस्कार दूसरों पर भी आते हैं।

४३. अंत में गुरु को बार-बार के साथ-सहयोग से परेशान होना पड़ता है।

४४. उनको क्यों सहयोग दिया गया, हमें क्यों नहीं आदि बातों को सुनना पड़ता है।

४५. हमें ऐसा सहयोग दिया गया, ये हमारे कोई काम के नहीं हैं।

४६. प्रार्थना होती है- हमें ऐसा सहयोग दिया जाये जो पैदल चल सके, प्रवचन कर सके, हमारी सेवा कर सके, हमें खुश रख सके, हमारी प्रशंसा कर सके, हमारी आज्ञा अनुशासन का पालन कर सके, गुरु की तरह हमारी विनय-भक्ति कर सके, सिंहासन पर बिठा सके, पूजा करा सके, हमारे प्रकाशन आदि के लिये लोगों को प्रेरित कर सके, हमारे प्रवचनों आदि को लिख सके, टेप-वीडिओ आदि बनाये या बनवा सके, कभी भी हमारी कोई शिकायत न करें।

ध्यान दीजिये इतनी लोकैषणा नहीं होनी चाहिये कि जिससे सहयोगी गुरु-भक्ति से टूटे, उसका श्रद्धा-समर्पण टूटे, कर्तव्य टूटे और अंत में वह कहीं का भी नहीं रहे।

सहयोगी को भी चाहिये-वह इतना विवेक रखे कि भविष्य में कभी लौटने पर भी गुरु के हृदय में विश्वास व वात्सल्य का स्थान बना रहे। और पुन: आने पर गुरु सहर्ष स्वीकार कर सकें। हम भी पूर्ववत् गुरु संस्कारों में ही पल सकें। ध्यान रखना- जो कल्याण गुरुचरण छत्र-छाया में हो सकता है वह बाहर कहीं नहीं हो सकता है, बाहर तो बस क्षणिक चमक है किंतु बाद में भटकना ही होता है। भाग्यशाली वही है जो गुरु चरणों में रहकर अपनी आत्म साधना करता है एवं अनुशासनीय भक्ति परक साधना व प्रभावना करता है। गुरु चरण में लौकिक सुख-सुविधा कम किंतु आत्म कल्याण के संस्कार सर्वाधिक मिलते हैं और वे स्थाई रहते हैं।

**विचार कीजियें :**

हे साधक ! सोचो, गुरु ने तुम्हारा कितना बड़ा उपकार किया कि -

१. तुम्हें संघ में प्रवेश दिया।

२. तुम्हारे हित के लिए तुम्हारे परिवार या अन्य लोगों के ताने सुने और उन्हें सम्हाला।

३. संघस्थ लोगों को तुम्हारे अनुकूल बनाया।

४. मातृवत् अंगुली का सहारा दे तुम्हें चलना सिखाया।

५. अनेक त्रुटियों को क्षम्य कर सुधरने का अवसर दिया।

६. समय-समय पर संबल व प्रोत्साहन दिया।

७. उन्होंने तुम्हें विश्वास दिया, पर तुमने उनके विश्वास का घात किया।

८. तुम्हारी बड़ी-बड़ी गल्तियों को क्षमा किया, पर तुमने उनकी सामान्य भूलों की भी समालोचना की।

९. संघस्थ साधुओं के लिए पिच्छि, कमण्डलु, चटाई, शास्त्र आदि को अतिरिक्त रखा तो तुमने इन सामान्य बातों की समालोचना की, किंतु यह नहीं सोचा कि यदि कभी किसी का उपकरण टूट जाये, छूट जाये, किसी की समाधि, दीक्षा आदि में तात्कालीन आवश्यकता हुई तो उसकी पूर्ति सहसा कैसे हो सकेगी।

१०. तुम्हें दीक्षा दी, संस्कार दिये, शिक्षा दी, वात्सल्य दिया, बालकवत् सम्पोषण किया।

११. परिश्रम कर अध्ययन कराया।

१२. हर समय तुम्हारा ध्यान रखा।

१३. निरन्तर तुम्हारी वृद्धि की ।

१४. प्रवचन सिखाया ।

१५. स्वाध्याय की कला सिखाई।

१६. प्रशिक्षण का तरीका बताया।

१७. समाज व संघ-संचालन की विधि सिखाई।

१८. आवश्यकता को ध्यान रख तुम्हारा उपसंघ बनाया।

१९. अपनी सेवा शुश्रुषा या सहयोग की अपेक्षा छोड़ आपको सहयोगी साधु दिये।

२०. आपकी प्रतिष्ठा हेतु समाज में आपकी प्रशंसा की।

२१. आज्ञानुवर्ती /अनुशासित/ समर्पित शिष्य है, ऐसा कहा।

२२. अपने भक्त लोगों को आपसे जोड़ा, पर उन्हें आपने गुरु के प्रति व्यक्तिगत क्या शिक्षायें दीं।

२३. सहयोगी साधुओं की प्रतिकूलताओं में गुरु ने उन्हें सम्यक् शिक्षायें दी, किंतु आपने उन्हें कितनी श्रद्धा-भक्ति, कर्तव्य निष्ठा की शिक्षा दी।

२४. साथ-सहयोगी की प्रतिकूल परिस्थितियों में समय-समय पर दूसरे सहयोगी दिये।

२५. पर आपके पास भेजे गये सहयोगी क्या लौट कर आये? और आये भी तो कैसे आये? क्या आप इन सब बातों को नहीं जानते हैं।

२६. कितने ही काम आप बिना आज्ञा के करते रहें।

२७. निषेध करने पर भी आपने कितनी बार आक्रोश प्रगट किया।

२८. विभिन्न कार्यक्रमों (पंचकल्याणक,गजरथ, शिविर, वाचना, विहार, चातुर्मास आदि) के पूर्व समाज के प्रतिष्ठित लोगों को भेज कर अनुमति लेते थे, क्या वह मायावत् रही?

२९. झूठी प्रशंसा-प्रतिष्ठा के खातिर आपने झूठे मंत्र-तंत्र और चमत्कारिक घोषणाऐं कीं, समझाये जाने पर या निषेध करने पर रोष प्रकट किया।

३०. बिना आज्ञा के संघस्थ लोगों से चोरी -छिपे चर्चाऐं की, उन्हें बहकाया।

३१. इस प्रकार तुमने गुरु के साथ छल किया, पूछने पर झूठ बोला, समझाये जाने पर विश्वास दिलाया, वचन दिये, प्रतिज्ञायें ली-कि अब आगे ऐसा नहीं करेंगे, फिर उन्हें तोड़ा। क्या कभी इन गल्तियों के विषय में सोचा?

३२. रुष्ट हुये साधकों को विशेष सम्मान दे उन्हें और भड़काने की बात कह अपने स्वार्थ के खातिर उन्हें गुरु से तोड़ने की कूटनीतियाँ खेली।

३३. उनकी अनुशासन हीनता, कर्तव्य विहीनता, कृतघ्नता, शिथिलताऐं आदि के विषय में कभी समझाने का प्रयास नहीं किया कि आपको ऐसा नहीं सोचना/ कहना/ करना चाहिए। यदि आप ऐसे रहेंगे तो आपका कोई संबंध नहीं रहेगा।

३४. कभी- कभी आपने मिया मिट्ठू की तरह उनसे कहा भी पर बीच-बीच में

ईंधन ही डालते रहे, क्या यह आपका छल नहीं है?

३५. जिन लोगों को आपने गुरु संघ से तोड़ा/ सहयोग दिया, बाद में उन्हें यों ही बीच मझधार में छोड़ दिया कि फिर वे किसी भी घाट के नहीं रहें, बतलाईये ये कूटनीति नहीं है ?

३६. अपनी सेवा, प्रभावना, प्रतिष्ठा के खातिर आप साधना को छोड़ मंत्र-तंत्र, गंड़ा-ताबीज, झाड़ा-फूंकी करते रहें, वह भी बिना तत् साहित्य को पढ़े लिखे, क्या ये ठग- विद्या नहीं है?

३७. दैविक झूठे चमत्कारों की काल्पनिक घोषणायें करते हुऐ भी क्या आपका सत्य महाव्रत रह सकता है?

३८. क्या किसी के दैविक हाव-भाव की सम्यक् कला समझने का अभी तक प्रयास नहीं किया और यदि नहीं तो फिर उनकी बातों में क्यों आये? कहीं ऐसा तो नहीं है कि यह भी योजनाबद्ध तरीके से उन्हें पढ़ा लिखा कर तैयार किया गया हो।

३९. अपनी अज्ञानतावश उनका स्थितिकरण ना कर उनकी ही हाँ में हाँ भर सहसा विश्वास कर लेना कौन सी बुद्धिमानी है।

४०. उनके द्वारा कथित बातों को एक-पक्षीय सुन उसे पत्र-पत्रिकाओं में प्रसारित करना कौन सा न्याय है? धर्म का ये कौन सा लक्षण है? ऐसा करना कौन से आगम में वर्णित है? यदि नहीं तो क्या ये आगम विरुद्ध चेष्टा नहीं है?

४१. संघ व भगवान के समक्ष समाधान पा, क्षमा व प्रायश्चित लेकर भी आपने किसी सहयोगी के कारण गुरु या संघ से टूटने की कौन सी बहादुरी की।

४२. किसी त्यागी व्रती की व्यवस्था हेतु यदि कोई सहज साध्य व्यवस्था बनाई गई, तो आपने उसकी आलोचना की पर कभी यह नहीं सोचा कि यदि उक्त लोगों को आवश्यकता पड़ी तो उन्हें किन लोगों के मुँह को ताकना पड़ेगा, हाथ फैलाना पड़ेगा और आखिर समाज में कहाँ कितने ऐसे लोग हैं जो स्वेच्छा से ऐसे लोगों की गरिमा और मर्यादा का सहज ध्यान रख व्यवस्था बनाते हों ?

४३. कभी आपने वृद्ध या कम पढ़े साधुजनों के संग्रह, दीक्षा की आलोचनाएँ की/ पर यह नहीं सोचा कि इनके आज जीवन भर तक संग्रह किये गये गृहस्थी के भार, परिवार कुटुम्ब आदि के त्याग या मोह को छोड़ने के भाव जाग्रत हुये हैं। इतनी उम्र में भी धर्म साधना के भाव तथा साहस जाग्रत हुआ है। यथाशक्ति धर्म साधना कर ये अपने अवशेष जीवन को सत् कर्तव्यों में लगाना चाहते हैं उनका यह कार्य निंदित नहीं किंतु प्रशंसनीय है। तथा गुरु की उनके प्रति अनन्य निस्वार्थ धर्म वात्सल्य एवं अनुकम्पा ही झलकती है, कदाचित् उनके संस्कार वश कोई कमी भी दिखती है, तो भी वे उसे आपके ऊपर तो नहीं छोड़ते। अपितु स्वयं अग्रणीयता से जिम्मेदारी पूर्वक उन्हें सम्हालते हैं, अत: उनके प्रति आपके द्वारा की गई समालोचना व्यर्थ है। अच्छा होता कि आप अपनी कुशलता के साथ उन्हें सम्हालते या सुसंस्कारों में ढ़ालने में सहयोगी बनते। यदि हमारे थोड़े से परिश्रम से उनका जीवन सुधरता है, कल्याण होता है तो उनकी समालोचना से क्या फायदा?

४४. इसी प्रकार कभी किसी को डाँटना/समझाना/पूछना/आलोचना सुनना आदि अनेक, गुरु के मौलिक कर्तव्य ही कहे जा सकते हैं। कभी-कभी किसी अस्वस्थता,आहार, विहार, व्यवस्था या प्रोत्साहन आदि में भी कदाचित् विलम्ब आदि संभव हो जाते हैं फिर भी वे उसकी आत्मनिंदा, गर्हा व पश्चाताप करते हैं।

इसी प्रकार और भी ऐसी सामग्रियाँ जो संघ सेवा में आवश्यक हों उन्हें ब्रम्हचारी भैया -बहनें रख सकते हैं जिसकी जो सामग्री होती है, वे ही उसके मुख्य स्वामी होते है, शेष मात्र उपकार हेतु माध्यम ही होते हैं, इसे प्राय: सभी जानते हैं। आचार्य परिग्रही नहीं होते हैं, ये क्या वे तो पिच्छि, कमण्डल व शास्त्र आदि उपकरण के अलावा शेष सभी वस्तु के त्यागी होते हैं। उक्त बातें संघ मे स्पष्ट ही रहती हैं मात्र व्यवस्था हेतु ही भैया-बहनों को अनुमति देते हैं, जो कि उचित एवं आवश्यक होती है। फिर भी आलोचकों से मेरा इतना ही कहना है कि वे अपने विवेक को बढ़ायें, अनुभव को बढ़ायें, दूरदृष्टि से परिस्थितियों को सोचने-समझने का प्रयास करें अथवा जो ना रुचता हो उसे वे स्वयं कभी ना

करें, बस इतनी ही इस विषय की उन्हें पर्याप्त शिक्षा है। बाकी गुरुजनों के कार्यों में हस्तक्षेप करना या आर्त्त-रौद्र ध्यान परक समालोचना करना मात्र मूर्खता ही है। बड़े संघ के संचालक आचार्य गण ही संघ संचालन के सारे अनुभव एवं कर्तव्यों को समझते हैं, अतः कभी उन निस्वार्थी, दूरदृष्टा, पुराने अनुभवशील आचार्यों से ही इन सब बातों का परामर्श करना चाहिए, वे अवश्य ही सम्यक् जानकारी देंगे। अथवा स्वयं संघ में स्थाई रह कर विचारानुसार आचार्य श्री की अनुमति से व्यवस्था बनाने का प्रयास करना चाहिए, तब सारे सही अनुभव मिलेंगे, तव आपकी यही उद्घोषणा होगी कि - आलोचना करना सरल है किंतु व्यवस्था बनाना कठिन है।

हे विज्ञ !

१. यह भी ध्यान रखें-आवश्यकता एवं व्यवस्था की आड़ में कहीं अनावश्यक कार्य ना होने लग जायें।

२. ऐसी परिस्थिति में परेशानी/अभाव व अव्यवस्था में रहना उचित है पर अपनी कमजोरी/दीनता-हीनता को प्रगट करना उचित नहीं है।

३. कभी किसी के समक्ष हाथ फैलाना/ माँगना/आपूर्ति न होने पर रोष प्रकट करना/ दूसरों की बुराई करना ठीक नहीं है।

ध्यान रहे-प्रत्येक समाज अपने गुरु की व्यवस्था अच्छी से अच्छी करती है पर किसी कारणवश ना कर पाये तो उसमें संतोष ही रखना चाहिए।

किसी भी वस्तुस्थिति का सही, दूरदृष्टि ज्ञान से हीन, अनुभव रहित, असंतुष्ट व्यक्ति ही आलोचनायें करते हैं ज्ञानी नहीं। ज्ञानी तो परिस्थितियों के पारगामी होते हैं, मूर्ख लोग भावुक किस्म के, किसी की हाँ में हाँ और ना में ना करने वाले होते हैं कि जैसे हम या हमारे विचार हैं वैसे ही सबके विचार रहें, पर ये क्या त्रिकाल में भी संभव है? जब तक बच्चा, माता-पिता की शरण में रहता है तव के सोच/अनुभव में तथा अपने पैर पर खड़े हो जाने के उपरांत सोच विचार में काफी अंतर आ जाता है।

हे साधक ! सोचो, कहाँ हम शरणागत और कहाँ हमारे शरणप्रदाता, कहाँ हम सेवक और कहाँ हमारे स्वामी, क्या कभी हमारी उनसे बराबरी हो

सकती है ? कर्तव्यों के विषय में, अधिकार के विषय में, कार्य क्षेत्र के विषय में, सोच-विचार के विषय में, सेवा-व्यवस्था के विषय में, आदर-सम्मान के विषय में, मार्गदर्शन व कंट्रोल के विषय में क्या कभी बराबरी हो सकती है? अत: बराबरी के कुछ भी प्रयास करना अज्ञानतापूर्ण चेष्टा है।

अत: दायरा दायरे में रहे, दरिया दरिया में रहे, सभी अपने-अपने अधिकार क्षेत्र में रहें, सभी का ऐसा ही सोच-विचार रहे यही समझदारी है, अन्यथा मात्र अज्ञान भरे मिथ्याभिमान से आलोचना/विसंवाद/टूटन संभव है पर कल्याण नहीं । समझदारी इसी में है कि हम अपने-अपने कर्तव्यों में ही सोच रखते हुये प्रसन्नता/ वात्सल्य, सहयोग व एकता के साथ धर्म ध्यान करें। सोचिये-

१. जब हम गुरु शरण में आये थे तो क्या सोचकर आये थे?

२. आज क्यों हमारे अंदर इतनी असहिष्णुता बढ़ रही है?

३. आज क्यों हमारे अंदर इतनी लोकैषणा बढ़ रही है?

४. आज क्यों हमारे अंदर इतनी कृतघ्नता बढ़ रही है?

५. क्या इसलिए गुरु ने हमें अपनी शरण दी थी?

६. कहीं ऐसा तो नहीं है कि हम गुरु/धर्म की आड़ में अपने आपको धोखे में डाल रहे हों।

७. क्या गुरु चरण से दूर रहने पर हमारा कल्याण हो सकेगा?

८. अनादि के हमारे जो संस्कार गुरु शरण में नहीं छूटे, क्या वे पृथक् रहने पर छूट सकेंगे?

९. क्या संघ के अनुशासन में रहने से धर्म प्रभावना/साधना नहीं होती है।

**विचार कीजिये :**

१. जो शिक्षा, संबोधन, संस्कार हमें गुरु चरण में प्राप्त हो सकते हैं, क्या वे कभी बाहर मिल सकेंगे?

२. गुरु का वात्सल्य पाने एवं सेवा करने का स्वर्णिम अवसर गुरु चरणों में मिल

सकता है, क्या वह कभी बाहर मिल सकेगा?

३. गुरु भाईयों की सेवा, वात्सल्य हमें संघ में मिल सकता है, क्या वह कभी बाहर मिल सकेगा?

४. गुरु हमें जिस प्रकार अपने पास रखकर सम्भाल सकते हैं, क्या वे परोक्ष में सम्भाल सकेंगे?

५. जितना समय हमें गुरुकुल में अध्ययन,ध्यान,साधना का मिल सकता है, क्या वह बाहर मिल सकेगा?

६. जो साधना हमारी गुरुकुल में होती है, क्या बाहर हो सकेगी?

७. असमर्थता, अस्वस्थता व समाधि के क्षणों में जो संबोधन हमें गुरुकुल में मिल सकता है, क्या वह कभी बाहर संभव है?

८. हमने समर्पण गुरु को किया है या अन्य को?

जब ऐसे विचारक साधक मिलते हैं तो फिर उनके अंदर सम्यक् विचार उत्पन्न होते है, सम्यक् कर्तव्य उत्पन्न होते है, फिर वे कभी भी गुरू चरण नही छोड़ते अपितु, गुरू को ही उन्हें प्रथम विहार के लिये प्रेरित करना पड़ता है तथा पृथक विहार करते हुए भी उनका जीवन गुरुकुलवत् ही रहता है किन्तु इससे विपरीत लोगों को गुरू व गुरुकुल दिखता तो रहता है पर वे अंतर से लोकेषणा के भूखे प्यासे ही नजर आते है अत: उनकी स्व शिष्य बनाने की योजना प्रारंभ होती है और उसके लिए विभिन्न तरीके निकाले जाते हैं। लोगों के द्वारा पूछे जाने पर कि ऐसा क्यों। तो फिर विभिन्न प्रकार की समाधान परक उत्तर श्रृंखलाऐं तैयार की जाती हैं, कि सही लोगों का सहयोग नहीं किया जाता है ये ऐसे, वे वैसे हैं आदि। इन लोगों से शांति/ साधना/ प्रभावना नहीं हो पाती है, अत: दीक्षा देने की हमें स्वीकृति दी जाये।

पर ऐसी प्रार्थना बहुत कम देखी जाती है कि हमें धर्म-प्रभावना नहीं किंतु गुरु चरणों में ही रहना है, सेवा - भक्ति करना है, गुरु चरणों में ही साधना कर स्व-पर कल्याण करना है, ऐसा क्यों होता है? उसका इतना ही सही उत्तर है कि प्रभावना का नशा इतना अधिक चढ़ जाता है कि फिर उसे छोड़ना कष्ट साध्य

हो जाता है। अतः विभिन्न हेतुओं को बताकर दीक्षा देने की स्वीकृति मांगी जाती है।

अब आप ही सोचें कि यदि आपने दीक्षा दे भी दी तो दीक्षार्थी को प्रायश्चित आदि कौन देगा। प्रायश्चित देने का अधिकार तो मात्र आचार्य को ही है मुनि को नहीं, और आचार्यगण प्रमुख रुप से अपने ही शिष्यों को प्रायश्चित देते हैं परशिष्यों को नहीं, क्योंकि वे उससे व उसकी गलती/ दोष/अपराध से अपरिचित होते हैं। वे उसे यही सलाह देते हैं कि तुम अपने गुरु से ही प्रायश्चित लेना क्योंकि उसके गुरु के मौजूद होने पर यदि आचार्य आगंतुक साधक को प्रायश्चित दें, तो फिर वे स्वयं ही प्रायश्चित के अधिकारी हो जाएंगे, अतः सामान्यतः वे परशिष्य को प्रायश्चित नहीं देते। अब बतलाईऐ कि ऐसे साधक के लिए कौन प्रायश्चित दे। स्वयं दे नहीं सकते क्योंकि अभी आचार्य पद/ अधिकार नहीं है तथा गुरुमुख से प्रायश्चित ग्रंथ पढ़े नहीं हैं। प्रायश्चित ग्रंथ के ज्ञान के, बिना प्रायश्चित देना साक्षात् जिनाज्ञा एवं गुरु आज्ञा का उल्लंघन करना है और यह सबसे बड़ा अपराध है। तो उस शिष्य का क्या होगा, उसके व्रतों में लगे दोष कैसे धुलेंगे? व्रत शुद्धि कैसे होगी?

कुछ लोग पौराणिक उदाहरण देते हैं, अमुक मुनि ने तो अमुक को दीक्षा दी थी। पर वह यहाँ घटित नहीं होता क्योंकि उस समय का संहनन, वैराग्य, ज़ान, भव-भीरुता आदि विशेष रुप में पायी जाती थी, वह आज नहीं है। अतः वे दीक्षा दें तो यह राजमार्ग नहीं है। जैसे आज़ भी समाधि के सम्मुख साधकों को दीक्षा देने की गुरु यथोचित आज्ञा दे देते हैं पर उसे राजमार्ग नहीं बनाया जा सकता है। अन्यथा आज बहुत कुछ लोकैषणा के इच्छुक ऐसे लोग दीक्षा देने या लेने के लिए बैठे हैं, जिन्हें ना आगम का ज्ञान है और ना पात्रता का। यदि वे दीक्षा दें भी दे तो भी पात्रता के अभाव में ऐसे साधकों को स्थाई रुप से निभा ही नहीं सकते हैं और अंत में या तो आपसी विसंवाद खड़े होते हैं या फिर बीच मझधार में छोड़ दिये जाते हैं। अन्य भी ऐसे ही साधकों में प्रतिस्पर्धा जगती है जिससे वे भी ऐसे ही कदम उठाते हैं और अंत में इन सबका प्रभाव समाज पर गलत पड़ता है जिससे समाज में गुरु भक्ति का स्तर गिरता है।

हे साधक ! ध्यान रखिये, कभी भी ऐसा कार्य मत कीजिये जो स्व-पर शांति, नैतिकता का विघातक हो तथा शिथिलताऐं उत्पन्न करे, विघटन पैदा करें तथा जिन व जिनागम की आज्ञा का उल्लंघन करें। अतः दूसरों को दीक्षा देने की अपेक्षा स्वयं गुरु के आश्रम में/ संघ में रहकर अपनी साधना/ प्रभावना कर दुर्लभ जीवन को सार्थक करें, यही सभी के हित में है।

## २५. आचार्यों के प्रति आचार्य आदि पद लेने-देने बावत् चिंतन

आचार्य परमेष्ठी हमारे आराध्य हैं, पूज्य हैं, आदर्श हैं, भगवत् तुल्य हैं। अतः आचार्य पद की गरिमा रखना हमारा प्रधान कर्तव्य है।

१. हमें आचार्य, उपाध्याय आदि पदों की नहीं, अपितु योग्यता की भूख होना चाहिये। अन्यथा आचार्य, बन जाना एक बात है और आचार्य बनाया जाना दूसरी बात है। बन जाने में योग्यता के होने पर भी अलिप्तता प्रगट होती है। जिनमें भवभीरुता, कर्तव्यनिष्ठा, गुरु के प्रति भक्ति, आज्ञा, अनुशासन,निरभिमानता, लघुता, वात्सल्य, संगठन एवं आत्म कल्याण की भावना आदि दिखती है, ऐसे आचार्य गण स्वयं अपनी चर्या द्वारा शिष्यों के लिये साकार शिक्षा देते हैं। इसका प्रभाव भी शिष्यों पर अच्छा एवं ठोस पड़ता है, किंतु जो आचार्य बनना चाहता है, वह तो पद का भूखा है, पद पाने के लिये वह सब कुछ कर सकता है । अपने गुरु,गुरुकुल,कर्तव्य, अनुशासन, निष्ठा, लोक-लाज आदि सभी की आहुति दे सकता है। यहाँ तक ही नहीं, अपितु जिनने उसे आचार्य आदि पद नहीं दिये, तो वह उनकी आज्ञा,अनुशासन का पालन करना, किसी भी कार्य की पूर्वानुमति लेना, संघ में विसंवाद, गुटबाजी या बदनामी तक कर सकता है और संघ छोड़ आपका नाम व जयकार आदि भी बंद कर सकता है, तथा तरह-तरह की प्रताड़नायें भी दे सकता है।

ऐसा व्यक्ति कहीं से भी पदादि ले भी ले, तो क्या उसे सम्यक् रीति से निभा सकेगा? क्या ऐसे व्यक्ति से कोई प्रभावित हो सकेंगे? अथवा यदि कदाचित्

तात्कालिक, क्षणिक कुशलता वश येन-केन प्रकारेण कहीं से पद ले भी ले, तो क्या पद की प्रतिष्ठा रख सकेगा? क्या उसकी उक्त बातों का प्रभाव समाज व साधुओं या बनाये गये अपने शिष्यों पर सम्यक् प्रकार से पड़ सकेगा?

ऐसे लोगों की पद प्रदाता आचार्य (दीक्षा गुरु) को सम्यक् परीक्षा करनी चाहिये और अपात्रता में किसी भी प्रकार से पद नहीं देना चाहिये। चाहे वे-

१. आपके आज्ञा - अनुशासन का पालन करें या ना करें

२. नाम लें या बदनाम करें।

३. जयकार बोलें या निंदा करें।

४. संघ में रहें या संघ छोड़कर चले जायें।

अथवा

पद देने पर आपकी भूरि -भूरि प्रशंसा करें।

पद देने पर आपका सम्मान करें।

पद देने पर आपका सहयोग करें।

पद देने पर आपकी सेवा-भक्ति करें।

पद देने पर आपका नाम व जयकारा बोले।

फिर भी ऐसे व्यक्तियों को ज्ञानी आचार्य पद आदि न दें। क्योंकि ऐसे व्यक्तियों से उक्त सभी समस्याओं का हल तभी तक होता है, जब तक कि अनुकूलता है। इसके बाद बुराईयों का लेबल पुन: उतना ही हो जाता है जितना कि पद न देने पर था। अपितु उससे अधिक बढ़ जाता है क्योंकि पद न देने पर उस साधक तक ही था, किंतु पद देने पर फिर अन्य कच्चे साधकों में भी पदोन्नति की प्रतिस्पर्धा प्रारंभ होती है और फिर वे वैसा ही व्यवहार करते हैं, जैसा कि उक्त महानुभाव ने किया। अत: पद प्रदाता आचार्यों की अशांति, असीमित और दुर्निवार हो जाती है। अच्छा है कि पद प्राप्त कर्ता स्वयं आचार्य की संघ सेवा में सहयोगी बन जाये, उनकी व्यवस्था में हाथ बटाये, तो इससे पद की अपेक्षा

अधिक गरिमा मिलेगी, यश मिलेगा, वात्सल्य झलकेगा, संगठन बढ़ेगा, धर्म सेवा व स्व-पर आत्म प्रभावना होगी। बार-बार अनेक लोगों द्वारा आचार्य पद देने की प्रेरणा का निषेध करने पर पद के प्रति अलुब्धता दिखेगी जिसका स्थाई प्रभाव साधु संघ व समाज पर पड़ेगा। यही सच्चे साधकों का सम्यक् कर्तव्य है, सच्चे साधक पद के लिये दौड़ते या लड़ते नहीं हैं, वे किसी की कुर्सी को छीनते नहीं हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि लड़-झगड़ कर या छीनकर पाई गई कुर्सी पर बैठना ठीक नहीं है। यह तो मात्र राजनीति है।

सच्चे साधक पात्रजन पद प्रतिष्ठा के आसन सिंहासन पर सहसा स्वयं बैठते नहीं, उन्हें तो बैठाया जाता है। आज तो बिना पद प्रतिष्ठा के भी बलात् सिंहासन पर बैठा जाता है। ऐसे व्यक्ति पद पाकर भी गुरु, संघ व विद्वत् समाज में नीरस एवं भारभूत ही होते हैं। और पद तथा धर्म के उपहास के ही कारण बनते हैं।

अत: हे साधक! तुम उक्त सभी बातों का ध्यान रखो तथा यह भी ध्यान रखो, कि प्रतिष्ठा मात्र पद से ही नहीं किंतु सम्यक् कर्तव्यों से मिलती है। उसे नहीं अपनाने वाले आचार्यों से भी अधिक प्रतिष्ठा एक लघु मुनि पा सकता है। अत: पद के पीछे मत दौड़ो, अपितु ऐसा प्रयत्न करो, कि पद तुम्हारे पीछे दौड़ने लग जाये।

## २६. अन्य दीक्षित शिष्यों को संघ में रखने, दीक्षा या पद देने से लाभ-हानि

आदर्श मनीषी आचार्य गण इस बात का ध्यान रखें, कि कभी भी किसी आचार्य के दीक्षित शिष्य आदि आपके पास आयें तो उसे बिना उसके दीक्षा गुरु की अनुमति के संघ में प्रवेश न दें, यदि कोई साधु अपने संघ को छोड़कर आये और गुरु या संघ की बुराई बताता भी है, तो उसे समझायें कि आपको ऐसा नहीं सोचना चाहिये, या ऐसा नहीं कहना चाहिये। बुराई करने से स्वयं तो टूटते ही हैं, साथ ही सुनने वाले की श्रद्धा टूट जाती है और आपसी

वैमनस्यताऐं आ जाती हैं। अपने संघ की बात अपने संघ में ही हल करना चाहिये। यदि उनसे कोई भूल हो भी जाती है तो भी उनकी निंदा नही करना चाहिये। ऐसा करने से -

लाभ

१. श्रमण संस्कृति की सम्यक् रक्षा हो सकेगी।
२. कोई भी साधु अपने संघ के अनुशासन के विरुद्ध नहीं जाएगा।
३. अपने गुरु या संघ की निंदा, बुराई नहीं करेगा।
४. कोई भी शिष्य गुरु द्रोह नहीं करेगा।
५. सभी में अनुशासन के संस्कार पड़ेंगे।
६. अपने-अपने गुरु, संघ के प्रति श्रद्धा, भक्ति, विनय आदि के संस्कार आयेंगे।
७. दूसरे साधु इसका अनुसरण नहीं करेंगे।
८. सभी अपने-अपने गुरु के अनुशासन में रहेंगे।
९. कभी भी कोई उनकी मर्यादा नहीं तोड़ेगा।
१०. पारस्परिक साधु-समूह को नहीं तोड़ेंगे। इससे संघ नायकों में पारस्परिक वात्सल्य भाव बढ़ेगा।

हानि

१. ऐसा करने से पाप लगता है।
२. दूसरी जगह परायापन ही मिलता है।
३. दूसरी जगह वह विश्वास नहीं रहता जो होना चाहिये।
४. भगोड़े या शरणार्थी की तरह हीन दृष्टि से देखे जाते हैं।
५. न चाहते हुये भी उन्हें संघ की निंदा करनी पड़ती है।
६. जिनके पास जाते हैं, वे भी ऐसा ही सोचते हैं, कि जो आज अपने पूर्व गुरु को बदल रहा है वह कल मुझे भी बदलेगा। आज उनका विश्वासघाती एवं

निंदक है कल मेरे साथ भी वैसा ही करेगा।

७. स्वार्थी संस्कार आ जाते हैं। आज अपने स्वार्थ के खातिर यह मेरी प्रशंसा कर संघ प्रवेश मांग रहा है। कल हमारे संघस्थ साधुओं में भी वैसे ही संस्कार डाल अंशाति पैदा करेगा एवं फूट डालकर या संघ तोड़कर जायेगा।

इसे शरण देने से मेरी भी हंसी होगी। ये आचार्य ऐसे हैं, जो कहीं से भी टूटे-छूटे बहिष्कृत साधुओं को अपना शिष्य बना, नाम प्रशंसा के लिये स्थान (शरण) देते हैं। क्या इन्हें कोई अच्छा शिष्य नहीं मिलता, अथवा "जैसे गुरु वैसा चेला" शिष्य भी चोरी से भागकर आया है और ये भी उसके गुरु की अनुमति के बिना अपने संघ में रख रहे हैं, क्या यह शिष्य चोरी नहीं है? अन्याय, अनीति को प्राश्रय देना नहीं है? श्रमण संस्कृति में प्रदूषण फैलाना नहीं है? यदि बड़े-बड़े आचार्य गण ही ऐसा करने लग जायें, तब तो छोटों में भी वैसे ही संस्कार आयेंगे। आने वाले समय में विद्वत् समाज भी इसे गलत कहेगी तथा समाज में दुर्निवार संकट खड़ा हो जायेगा, कौन किसे समझायेगा? तब उस समय आज के हमारे संस्कार के बीज ही विशाल रुप ले लेंगे?

अत: कभी भी किसी के शिष्यों को उसके गुरु की अनुमति लिये बिना/ स्वीकृति लिये बिना संघ में स्थाई प्रवेश न दें, दीक्षा न दें, तथा आचार्य, उपाध्याय आदि पद न दें। आगम तो यहाँ तक कहता है, कि प्रायश्चित भी न दें, और अपने ज्ञान पूर्ण वात्सल्य से उसे पुन: अपने गुरु संघ से जोड़ें, यदि जोड़ न सकें, तो मध्यस्थ रहें किंतु किसी भी हालत में उसे तोड़े नहीं।

## २७. सल्लेखना - एक विचारणीय तथ्य

जब किसी साधक का स्वास्थ्य ठीक हो, रत्नत्रय की सकुशल साधना हो रही हो तथा बहुत कुछ आयु शेष हो तब दीर्घकालीन अनुभव के बिना सल्लेखनाएँ सहसा नहीं देना चाहिये लेकिन देखा जाता है कि ज्योतिष आदि के गहन अध्ययन के बिना ही १२ वर्ष की सल्लेखना दे दी जाती है अथवा सल्लेखना विधि एवं उसके क्रम के ज्ञानाभाव में कभी -कभी सल्लेखनाएँ अनुचित समझ में आने लगती हैं। इस सम्बन्ध में ज्ञानी, अनुभवशील व्यक्तियों से परामर्श अवश्य

लेना चाहिये। अन्यथा साधक को जबरदस्ती सल्लेखना करना पड़ेगी, जिससे स्वयं के भी परिणाम बिगड़ेंगे, हिंसात्मक दोष भी लगेगा तथा लोक में भी उसका गलत प्रभाव पड़ेगा या फिर नियम तोड़ना पड़ेगा जो कि उपहास का ही कारण बनेगा।

१. कितनी बार ऐसा भी देखा जाता है, कि अपने नाम, प्रशंसा, प्रतिष्ठा के लोभ में आकर मूर्छित/अनीच्छित व्यक्तियों, मृतक व्यक्तियों तक को सल्लेखना पूर्वक दीक्षाएँ दे दी जाती हैं, जो कि अनुचित है इससे नाम, प्रशंसा प्रभावना तो फिर भी देखी जा सकती है, किंतु सम्यक् भाव विरहित सल्लेखना - सम्यक् सल्लेखना नहीं कही जा सकती है।

२. आवेग, परीषहों व उपसर्गों से घबड़ाकर भावुकता में भी सहसा सल्लेखना नहीं ली जाती है। क्योंकि आगम में कहा है-

*"उपसर्गे दुर्भिक्षे, जरसि रुजायां च नि:प्रतिकारे।*

*धर्माय तनु विमोचन, माहुः सल्लेखना मार्या: ॥१२२॥ र.क.श्रा.*

प्रतिकार रहित उपसर्ग आदि के आने पर जिसमें जीवन की कोई उम्मीद न हो तभी यम सल्लेखनाएँ ली जाती हैं। यदि प्रतिकार संभव हो, तो नहीं। हाँ, संदेहात्मक परिस्थिति में यथासंभव नियम सल्लेखना ली जा सकती है, और जबकि उपसर्ग दुर्निवार हो जाये तब उसे यम सल्लेखना में परिवर्तित किया जा सकता है।

१. किसी के डर, भय या बदनामी के भय से नियम सल्लेखना ले लेना भी ठीक नहीं है क्योंकि इसमें निरंतर परिणाम संक्लेशित ही रहते हैं। विशुद्धि की संभावनाएँ बहुत कम देखी जाती हैं तथा बदनामी तो यथावत् बनी ही रहती है। इतने मात्र से किसी के परिणाम नहीं बदल जाते। अपितु संदेह का ही प्रतिशत बढ़ जाता है। उपसर्ग, परीषह या अवर्णवाद का प्रतिकार करने का यथाविधि प्रयत्न करना चाहिये। हाँ, ऐसी अपरिहारी परिस्थिति आ जाये कि जिससे हिंसा भड़क सकती हो, तो अहिंसा एवं अपने लिये हुये संयम व्रत, चारित्र, आदि की रक्षार्थ सल्लेखना ली जा सकती है।

२. ऐसी सल्लेखनाओं के शास्त्रो में जो उल्लेख मिलते हैं वे प्राय: उत्कृष्ट सहंनन धारी मुनियों के ही मिलते हैं। संहनन के अभाव में मृत्यु तो हो सकती है, सम्यक् सल्लेखना नहीं, अथवा सल्लेखना का प्रचार तो हो सकता है पर वह सम्यक् सल्लेखना नहीं कही जा सकती है।

यदि इस बात का ध्यान नहीं रखा गया तो भावुकता पूर्ण मृत्यु की संख्या बढ़ सकती है। किसी भी प्रकार के अवर्णवाद में व्यक्ति मृत्यु की तैयारी में बैठ सकता है पर इससे अवर्णवाद से छुटकारा नहीं हो सकता है और सम्यक् सल्लेखना भी नहीं कही जा सकती है। और इसे कोई भी साधु या समाज भी स्वीकार नहीं कर सकेगी। यहाँ तक किसी सीमा में शासन भी हस्तक्षेप कर सकता है और हमारी जिनप्रणीत पवित्र सल्लेखना समाधि विधि, उपहास का स्थान बन सकती है। अत: साधकों को इन बातों पर भी यथोचित ध्यान देना होगा।

**ध्यान दीजिये :**

अवर्णवाद में की गई सल्लेखना भी सम्यक् सल्लेखना नहीं है, यह तो विपत्ति से छुटकारा पाना मात्र है, कायरता ही है। आज कोई ऐसा देव भी नहीं है, जो आकर चमत्कार कर दे, तथा आपके अग्निकुण्ड को जलकुण्ड बना निर्दोषता का प्रमाणपत्रं दे दें। जीवित रहकर तो अवर्णवाद का प्रतिकार किया जा सकता है लेकिन समाधि के बाद अवर्णवाद का प्रतिकार भी संभव नहीं।

ध्यान रखिये, कभी भी कोई जल्दबाजी में सल्लेखना न करें, किंतु आये हुये उदयागत कर्मों में अपने विवेक के अनुसार समता और शांति का परिचय दे। आज निर्दोष को भी अग्नि जला सकती है और लोग अपराधी को भी निर्दोष का प्रमाण पत्र दे सकते हैं। ऐसी सल्लेखना से तो पाप ही लगेगा किंतु उपसर्गों में समता शांति रखने से प्रतिक्षण असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा होगी। दीर्घकाल तक रत्नत्रय की साधना होगी, और अशुभ कर्म के टलने पर आगत उपसर्ग का भी शमन होगा, सभी का समाधान होगा, देर संभव है पर अंधेर नहीं ।

यह तो कलिकाल की बलिहारी है कि कभी ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, कि आपसी समस्या पर, अनुशासन हीनता पर , शिथिलाचार पर, कंट्रोल

करने पर उल्टा कन्ट्रोलर को ही फंसा दिया जाता है। उनकी सहजता में उनकी बनावटी योजनाबद्ध प्रक्रिया अधिक प्रभावित होती है। और पराजय का बदला प्रतिशोध अवर्णवाद के ब्रह्मस्त्र से लिया जाता है, पर ध्यान रखना, उसका प्रभाव एक समय सीमा तक ही रहता है। बाद में अग्नि परीक्षा में उत्तीर्णता के रुप में उपलब्ध होता है।

**अत: ध्यान रखिये :**

अवर्णवाद सती सीता पर हुआ, सती द्रोपदी पर हुआ, सती अंजना पर हुआ, सेठ सुदर्शन पर हुआ, जैनाचार्य श्री जिनसेन पर हुआ और इसमें उन्होने क्या – क्या कष्ट नहीं उठाये? पर वे अपने पथ से कभी विचलित नहीं हुये अपितु इसे भी परीषह–उपसर्ग मान समता को धारण किया। रोष और प्रतिशोध को नहीं अपनाया क्योंकि प्रतिशोध बैर–विरोध, कषाय और हिंसा को ही जन्म देता है। जिससे अहिंसा, सत्य,क्षमा आदि धर्म समूल नष्ट हो जाते हैं। जिनेन्द्र देव कहते हैं कि हिंसादि से पायी गई विजय कोई सच्ची विजय नहीं है। सच्ची विजय तो उन्होंने समता को ही कहा। जितनी शक्ति हम प्रतिशोध में खर्च कर देते हैं, यदि उतनी आत्महित में करें तो निश्चित ही हमारा कल्याण हो जायेगा। सही धर्म व धार्मिकता का लक्षण है कि कोई अपना बैरी भी क्यों न हो तो भी सज्जन पुरुष उससे बैर न रखें। यदि समझ सके तो समझायें अन्यथा माध्यस्थ भाव रखें क्योंकि कहा है कि–

*"माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ"*

पूज्य कुदंकुदं आचार्य ने साधुओं के लिये कहा है कि –

***रिण मोयणं पि मण्णइ, जो उवसग्गं परिसंह तिव्वं***

***पाव फलं मे ऐदे, मया वि जं संचिदं पुव्वं ।। का.अ. ।।***

संत पुरुष अपने ऊपर तीव्र परीषह या उपसर्गों के आने पर सोचते हैं, कि यह सब मेरे ही पूर्वकृत् अशुभ कर्म का फल है। अच्छा है कि मैं समता पूर्वक इस उदयागत कर्म को क्षय कर ऋण मुक्त हो जाऊँ। जब मैं बुरा नहीं हूँ, तो कोई मेरा बुरा कर भी नहीं सकता। किसी के बुरा कहने से कोई बुरा हो नहीं जाता,

अपितु किसी को बुरा कहना स्वयं बुरे होने का ही परिचय देना है जब दृष्टि बुरी होती है तो अच्छी वस्तु भी बुरी दिखती है, और जब दृष्टि अच्छी होती है, तो बुरी वस्तु में भी कहीं न कहीं अच्छाईयाँ दिख जाती हैं। महाभारत में श्रीकृष्ण व अर्जुन का एक कुत्ते के विषय में दृष्टांत प्रसिद्ध है जिसे आप सभी जानते ही हैं। बुरे की बुराई कर मैं क्यों बुरा बनूँ? बुराई करने वालों को अवश्य ही बुरा फल मिलता है, तो मैं क्यों किसी की बुराई के विषय में सोचूँ। पूज्य आचार्य श्री शांति सागर जी व पूज्य आचार्य महावीर कीर्ति जी ने तो लाठी मारने वालों को भी अभय का आशीर्वाद दिया था।

ध्यान रखिये बैर-विरोध में झुलसा हुआ व्यक्ति दूसरे को विभिन्न कष्ट दे सकता है। पर सत्य यह है, कि कष्ट किसी को दिये नहीं जाते, किंतु अपने लिये ही वे रिजर्व(आरक्षित) कर लिये जाते हैं। रोष में दूसरे का तिरस्कार किया जा सकता है, पर सत्य है कि तिरस्कार दूसरे का नहीं, किंतु ऐसा करने से अपना ही सम्मान गिरता है। अपने जैसें ही लोगों को एकत्रित कर प्रतिशोध में दूसरे की निंदा - बुराई या उसे षड़यंत्र के सींकचे में कसा जा सकता है, पर सत्य यह है कि उसे नहीं, किंतु कर्मों के सींकचे में हम ही स्वयं को कस लेते हैं।

तुम दूसरे के विषय में कितना जानते हो, तुम जितना जानते हो उससे कई गुना केवलज्ञानी जानते हैं। किंतु वे कभी किसी की बुराई नहीं.करते, न पत्र-पत्रिका आदि निकालते हैं। कहो, क्या वे पाप के पोषक हैं, नहीं अपितु आप ही पाप के विध्वंसक हैं। तुम ही जैन धर्म के हित चिंतक हो, वे नहीं हैं। क्या आप कभी किसी को बदल सकते हो? किसी की होनहार को रोक सकते हो? यदि ऐसा है तो जिनागम का यह वाक्य-

*" निजार्जित कर्म विहाय देहिनो, न कोऽपि कस्यापि ददाति-किञ्चन।*

*विचार यन्नेव मनन्य मानस:, परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम् " ॥३१॥ सा.पा.*

गलत हो जायेगा किंतु गलत आप तो हो सकते हो, पवित्र जिनागम गलत नहीं होगा।

कोई किसी को बलात् बदल नहीं सकता । हाँ, निमित्त हो सकता है-

माध्यम हो सकता है पर वह भी तभी जबकि सामने वाले का भी अनुकूल उपादान हो। इस पर भी निमित्त बनें पर सम्यक् पद्धति से, जिससे स्वयं ही कर्म बंधन में न फंस जायें, अन्यथा-

*"चले थे चौब्बे से छक्के होने किंतु हो गये दुब्बे।"*

*चले थे दूसरों का भला करने, किंतु अपना बुरा करके आ गये।*

जितनी चिंता हम दूसरों की करते हैं उतनी अपनी नहीं करते, यही तो विडंबना है जबकि हमारे आचार्य भगवन कहते हैं कि -

*"उत्तमा स्वात्मचिंतास्यान्, मोह चिंता च मध्यमा*

*अधमा काम चिंता स्यात्, परचिंताऽधमाधमा ।।४।। परमा. स्तो.*

ध्यान रखियें 'श्रमण संस्कृति रक्षक' एवं संवर्द्धक तो बनें, किंतु दुष्प्रचार कर उसके विध्वंसक एवं निंदक न बनें। यदि दृष्टि में कोई बुरा है, तो प्रथम यह भी देखें कि कहीं हमारी दृष्टि ही तो बुरी नहीं है। यदि है तो प्रथम उसे ही स्वच्छ करें। किंतु सामने वाला बुरा ही दिख रहा है तो उसे रास्ते पर लाने का सम्यक् प्रयास करें। यही प्रयास आपके धर्महित और आत्महित में सार्थक सिद्ध होगा। क्षणिक नाम- प्रशंसा और प्रतिष्ठा के खातिर अथवा अर्थलाभ या किसी के राग के खातिर दूसरों से विद्वेष, बैर-विरोध उचित नहीं। हम दूसरों के लिए गड्ढा खोदते हैं किंतु नियमतः स्वयं को उसमें गिरना पड़ता है। अग्नि का गोला दूसरों को मारने के लिये फेंकते हैं, वह उसे लगे या न लगे पर स्वयं के हाथ तो नियम से जलते ही हैं। दूसरों की बुराई, निंदा आदि कर धर्म रक्षा या संवर्द्धन का डंका पीटना एक मात्र भ्रम है। इसे कोई भी साधर्मी स्वीकार नहीं करेगा और तो क्या आप या आपके आपसी लोग भी ठंडे दिमाग से बात करेंगे तो भी इसे बुरा ही कहेंगे।

## २८. विद्वज्जनों एवं समाज का साधुओं के प्रति कर्तव्य

विद्वान, समाज के मार्ग दर्शक ही नहीं, किंतु उसे धर्म प्रकाश देने वाले भी हैं। हर समस्या का सम्यक् विवेक एवं मर्यादा से हल करने वाले हैं। समाज

में एकता, संगठन एवं शांति संस्कारों के सेतु हैं। वे किसी की धार्मिक श्रद्धा भक्ति को तोड़ते नहीं, किंतु जोड़ते हैं। वे समाज को पंथवाद एवं संघवाद की संकीर्णता की काषायिक गहराईयों मे गिराते नहीं, किंतु उससे बाहर निकालते हैं। क्योंकि समाज के पास तो हर परम्परा व संघ के साधुगण आते हैं, आहार, प्रवचन, सेवा, लाभ देते हैं, समाज उनसे सम्यक् लाभ ले हर्षित होती है तथा इन सबका दूसरी समाजों पर भी अच्छा प्रभाव पड़ता है अत: कोई संघवाद या पंथवाद फैलाना चाहे तो उसे सम्यक् सुझाव दें कि हमारी प्राचीन परम्परा में परिवर्तन न लायें। आपकी जो परम्परा हो उसे आप अपनी सीमा में रखें आदि। कोई भी विद्वान उन्हें किसी भी पंथ परम्परा या संघ परम्परा की सीमा में बांधने का प्रयत्न न करें, और ना ही समाज विभाजित करें। हमारे अधिकाशंत: साधुगण कहीं की भी पुरानी परम्परा को परिवर्तित कर समाज में फूट नहीं डालते हैं। भले ही वहाँ की परम्परा उन्हें पसंद हो या न हो अथवा उनकी वहाँ से भिन्न परम्परा हो, तो भी यथोचित शिक्षा दे संगठन, एकता,वात्सल्य का ही पाठ पढ़ाते हैं। उनका मुख्य उद्देश्य भौतिकता या अन्य सम्प्रदाय के मिथ्या चमत्कारों से प्रभावित लोगों को धर्म के सम्यक् पथ पर लाना होता है। चाहे वे किसी भी पद्धति से आयें- यही कारण है कि उनके चरणों में हर पंथ परम्परा के लोग सिर झुकाते हैं और उनसे आशीर्वाद पाते हैं, उनके अंदर किंचित् भी भेदभाव - रागद्वेष नहीं होता है। इसीलिये वे वीतरागी कहे जाते हैं।

अत: पंथ व्यामोही पण्डितजन उन्हें पंथ की संकीर्णता में न बाँधें -उन्हें समग्र समाज के नायक ही बने रहने दें। साथ ही वे जिस पंथ के भी विचारक हों, जहाँ तक बने आप अपनी सारी चर्चा सें उनसे ही अलग से कर लें। किंतु तद्विषयक अनावश्यक चर्चाएँ समाज में न फैलायें, अशांति पूर्ण वातावरण निर्मित न करें। किन्हीं भी भोले-भाले साधुओं को पंथ परम्परा की बलात् घूंटी न पिलायें। और न ही उन्हें ऐसी शिक्षा दें, कि आप अपने गुरु की बात तद्विषयक न मानना, यदि गुरु न मानें तो गुरु बदल लेना आदि। ध्यान दीजिये गुरु तो बदले जा सकते हैं किंतु क्या फिर उसे कोई स्थाई शरण दे सकेगा? विश्वास वात्सल्य दे सकेगा? कहीं ऐसा तो नहीं है कि वह आपकी बातों से भटक जाये और दोनों ओर

से शरण विहीन हो जाये। और अंत में फिर कौन उसे सम्हालेगा क्या आप भी उसे सम्हाल सकेंगे? या कपड़े देकर उसे घर पहुँचा देंगे। अतः कभी भी उसे ऐसी शिक्षा न दें, जिससे फिर वह कहीं का भी न रहे। कुछ विद्वान संघवाद फैलाकर समाज को दिग्भ्रमित कर, दो गुटों में बाँट रहे हैं। पर ध्यान दीजिये ऐसी परिस्थिति में समाज को कितनी तकलीफ झेलनी पड़ती है? फिर वे भी अपनी-अपनी ओर समाज को प्रभावित करने के विभिन्न आयाम तैयार करते हैं। पर इन सबसे रागद्वेष के सिवाय कुछ नहीं होता, नई पीढ़ी पर गलत संस्कार आते हैं। वे संतों के पास जाने से घबराते हैं। ऐसे प्रवचनों को भी फिर वे सुनना पसंद नहीं करते हैं। कभी-कभी इन सभी बातों से तो भक्तों तक में विवाद खड़े हो जाते हैं। अन्य लोग तमाशा देखते हैं। प्रभावना कम, आवेग पूर्ण अप्रभावना अधिक होती है अथवा संघ के नाम पर तो प्रभावना होती है, किंतु धर्म के नाम पर नहीं और अंत में हमारी समाज संघवाद में बँट जाती है।

साधुसंघ की वृद्धि देख कुछ विद्वानों की इतनी छोटी सोच होती है कि उनके निम्न शब्द प्रारंभ होते हैं -

१. ये बड़े आचार्यों की बराबरी कर रहे हैं।

२. इन्हें उन जैसा सम्मान नहीं मिल जाये।

३. इनका इतना संघ क्यों बढ़ता जा रहा है।

४. ये या इनके संघस्थ साधुगण जहाँ जाते हैं अपनी छाप छोड़कर आते हैं सारी समाज इनसे प्रभावित हो जाती है।

५. कहीं ऐसा न हो जाये, कि उनके नाम एवं प्रभावना में लोग दूसरों को भूल ही जायें।

६. अथवा इनकी प्रभावना में उनके त्यागी व्रती भी इनसे दीक्षा ले लें।

७. अतः कुछ न कुछ बातों को लेकर उनके भक्त या त्यागी व्रतियों के बीच बुराईयों में मजा लिया जाता है।

८. विरोधी लोगो को सहयोग व प्राश्रय देकर प्रोत्सहित किया जाता है।

९. उनकी बात की पुष्टि की जाती है।

१०. यहाँ के संघस्थ त्यागी व्रतियों को बहकाया जाता है कि क्या उनसे ये बड़े हैं, जो तुमने इन्हें चुना।

११. सोच - समझकर गुरू बनाना, तुम्हें इनके विषय में कुछ पता है या नहीं।

१२. इनके ही शिष्य इनकी बुराई करते हैं।

१३. सभी यत्र - तत्र भटक रहे हैं।

१४. चलो हम तुम्हें वहाँ प्रवेश दिला देंगे, वहीं दीक्षा लेना।

१५. उनके नाम ही नाम में तुम्हारा सब काम चलता रहेगा किंतु इनके नाम से तुम बदनाम हो जाओगे कोई नहीं पूछेगा तुम्हे आदि।

एक तो वैसे ही पंथवाद, संतवाद परम्पराओं में समाज पूर्व से बटी है, उसके और भी अधिक विखण्डन हो जाते हैं। जिसका परिणाम कालांतर में बहुत बुरा होता है। अत: कभी भी किसी भी, प्रकार का समाज में संघवाद न फैलाए। समाज को भी चाहिये-ऐसे लोगों से वह सावधान रहते हुये स्पष्ट प्रार्थना करे, कि हमारे यहाँ की शांति - एकता को आप भंग न करें अपितु यही शिक्षा दें कि कोई भी संघ या परंपरा के आचार्य, मुनि, आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक आयें वे सब हमारे पूज्यनीय हैं, मार्ग दर्शक हैं। सभी के लिये हम लोग आहार देते हैं सेवा करते हैं, करते आये हैं, करते रहेंगे। पत्र - पत्रिका, संपादकों प्रवचनकारों को चाहिये, कि कभी भी किसी की शिथिलता सुनाई दे तो मात्र सुनाने वालों पर ही विश्वास न करें। चाहे भले ही कितने और कैसे भी क्यों न हों, अपितु उन्हें तो स्पष्ट कहें कि मेरा ''दुःश्रुति का त्याग है।'' **''दोषवादे च मौनं''** की प्रतिज्ञा है।

अपध्यान परक इन बातों को मुझे न सुनायें, न मैं सुनूँगा। और यदि सुनने में भी आ जाये तो प्रथम सुनाने वाले की परीक्षा कर लें, कि ये क्यों सुना रहा है, क्या कारण है। जितनी चिंता इन्हें धर्म की है, क्या वे स्वयं उस धर्म के अनुगामी हैं या नहीं, नहीं तो प्रथम वे स्वयं जैसा धर्म को कहना चाहते हैं वैसा आचरण करके दिखायें और वे स्वयं उनके पास जाकर कहें अपनी ज्ञान पटुता से उनका स्थितिकरण करें, नहीं माने तो मध्यस्थ रहें। यही आगम की आज्ञा है।

किसी की कोई होनहार, भवितव्यता, भक्ति बदल नहीं सकता है। आदिनाथ भगवान भी मारीचि कुमार को नहीं बदल सके तो फिर हम कैसे बदल सकते हैं। अतः भूलकर भी कभी किसी के विषय में गलत पत्र - पत्रिका न निकालें। क्योंकि इसका जैनेतर समाज पर गलत प्रभाव पड़ता है तथा दोनों पक्षों में हिंसात्मक उत्तेजनायें भड़क उठती हैं।

अखबार बाजी होती है, पढ़ने - लिखने व छापने वाले भी विभिन्न विचार वाले होते हैं। उनकी तीखी भाषा-शैली पूर्ण आलोचना से कोई किसी को गलत ठहराता है, पर इनके माध्यम से होती मात्र धर्म की हंसी है, कि ऐसा धर्म, इस धर्म के ऐसे साधुगण होते हैं। अतः कभी भी किसी की त्रुटियों को छापने मात्र से आपकी धार्मिकता सिद्ध नहीं होगी। उसके पास जाकर कुछ दिन रुककर प्रथम उन्हें देखना होगा, समझना होगा और फिर वात्सल्य, मर्यादा व अपनी कुशलता से समझाने का प्रयास करना होगा। हर प्रयास उत्तेजना को भड़काने वाले नहीं अपितु भक्ति पूर्वक सुधार लाने वाले हों। हो सकता है कि ४-६ बार जाना पड़े, पर यदि हमारा प्रयास सम्यक् प्रकार से हुआ तो सुधार हो सकता है। देर हो सकती है पर देरी का परिणाम भी मीठा निकल सकता है । डंडे की अपेक्षा हृदय परिवर्तन में समय लगता है पर उपलब्धियाँ स्थाई होती हैं। प्रचार- प्रसार से क्षणिक उपलब्धियाँ भले हुई हों पर स्थाई सम्यक् उपलब्धियाँ नहीं हुई। इसमें धर्म की उपहासात्मक प्रक्रिया अधिक होती है और फिर उसमें सभी साधक उसी दृष्टि से देखे जाते हैं।

इन सबका सार संक्षेप इतना ही है, कि समझने वाले को इशारा काफी है और न समझने वालों को आपके सारे प्रयास भी निरर्थक हैं। अतः आपकी समझदारी इसी में है बने तो अहंकार व समझाने के दंभ पूर्ण तरीके को छोड़कर मर्यादा पूर्ण तरीका अपनायें। स्वयं जाकर समझायें तो बहुत संभावनायें हैं। किंतु कभी भी किसी के विषय में अखबार बाजी न करें। परीक्षा करने पर सिद्ध होता है कि जो भी गलत प्रचार-प्रसार की बनावटी सामग्री भेज रहे थे वे ही गलत थीं। या उनके द्वारा भेजी गई सामग्री ही झूठी थी। इस बात का ज्ञान होता है तो सिवाय पश्चाताप के, कि मैंने किसी के प्रति जल्दबाजी में बिना दूसरे के पास गये या

समझे बिना भावुकता वश जो भी लिखा या छापा है वह अच्छा नहीं किया । एक जटिल कर्म बंध ही किया है और इसके उदयकाल में मुझे निश्चित ही आसूँ बहाने पड़ेंगे। भवभीरु के अंदर ही निरतंर ऐसे परिणाम होते हैं, किंतु दीर्घ संसारी तो खुश ही होता है कि मैंने अच्छा किया है। समीक्षा मेरा काम नहीं, मेरा तो समालोचना ही प्रधान काम है। किसने देखा भविष्य? जो होगा सो देखेंगे। आदि ये सभी मिथ्या दंभ है। हे मनीषियों ! इन्हें तुम निकाल दो और कबीर की इन पक्तियों पर भी ध्यान दो –

*"बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय*

*जो दिल खोजा आपना, मुझसे बुरा न कोय।"*

## २९. वर्तमान में प्राय: विद्वानों की स्थिति

१. वे किन्हीं भी बातो को सुनने या पढ़ने के बाद अपने खर्चे से स्वयं परिस्थिति को समझने हेतु दोनों पक्षों के पास आ–जा नहीं सकते।

२. प्राय: सभी अपने –अपने व्यापार/सर्विस/ विधान/ प्रतिष्ठा/प्रवचन/ गोष्ठी/ सम्मान/ पुरस्कारों से बंधे हैं या लोभ में बैठे हैं।

३. सभी को अपनी–अपनी गरिमा/महिमा गिरने का डर है जिससे कुछ भी कहने के लिये समर्थ नहीं हैं।

४. अथवा विरोधी हमारा भी विरोध न करें, हमारे विषय में भी गलत भाषा–शैली का प्रयोग न करें, अत: या तो शांत रह जाते या फिर जिस पक्ष की जब बलिष्ठता देखते हैं उसी में शामिल हो जाते हैं।

५. कभी–कभी तो कुछ ऐसे भी विद्वान आते हैं जो स्पष्ट ही अर्थाग्रह की बात कर जाते हैं।

६. तो कभी कोई प्रतिद्वंदियों से प्रताड़ित हो अपनी बात ही बदल जाते हैं। उन्हें इतना ही पता नहीं रहता कि हमने पूर्व में क्या छापा था। और आज हमारी भाषा–शैली कहाँ पहुँच रही है।

७. अथवा जहाँ जिसका सर्वाधिक प्रभाव दिखता है वहाँ तभी तक दौड़ होती है और जहाँ कहीं प्रभाव कम दिखता है वहाँ जाने में फिर उन्हें शर्म लगती है।

८. उनके प्रयास प्राय: प्रदर्शन के होते हैं, धार्मिकता के नहीं। अत: कलम तो चलती है, शब्द गूँजते हैं, किंतु लाभ कुछ नहीं होता है। अत: विद्वत जन उक्त संस्कारों में राजनीति नहीं लेकिन राजनीति में धर्म लायें, यही उचित है।

## ३०. उपसंहार

उपरोक्त मेरा व्यक्तिगत चिंतन है इसमें किसी के प्रति रागद्वेष की भावना नहीं है और ना ही अपनी शाबासी दिखाने की भावना है। अपितु जो सम्प्रति मेरे अनुभव में आया उसे लिखने का एक प्रयास किया है। जिसमें दो बातें प्रधान है- १) क्या हो रहा है, और क्यों हो रहा है (२) क्या होना चाहिये और वह कैसे हो। संभवत: विद्वतजन साधुजन अथवा प्रबुद्ध भक्तगण इसका सार ही सार ग्रहण करेंगे, निस्सार छोड़ देंगे अथवा आवश्यक सुझाव भी देंगे जिससे इसे परिवर्तन व परिवर्धन या संक्षेप भी किया जा सके। इसे अभी आलेखात्मक आगम प्रमाण या भाषा शैली की दृष्टि से नहीं लिखा गया है अपितु समय-समय पर अनुभव में आये हुये प्रेरक -प्रसंगों को ही चिंतनात्मक, शिक्षात्मक दृष्टि से लिखा गया है। सभी लोग त्रुटियों के लिये क्षमा करेंगे।

*इति शुभं भूयात्।*

## पुण्यार्जक

सौ. विमलबाई व श्री. चिंतामणी लक्ष्मणराव वानरे, परभणी

## प.पू. गणाचार्य गुरुवर श्री विराग सागर जी महाराज द्वारा लिखित, संपादित, संकलित, प्रवचन सबंधित सहित्य

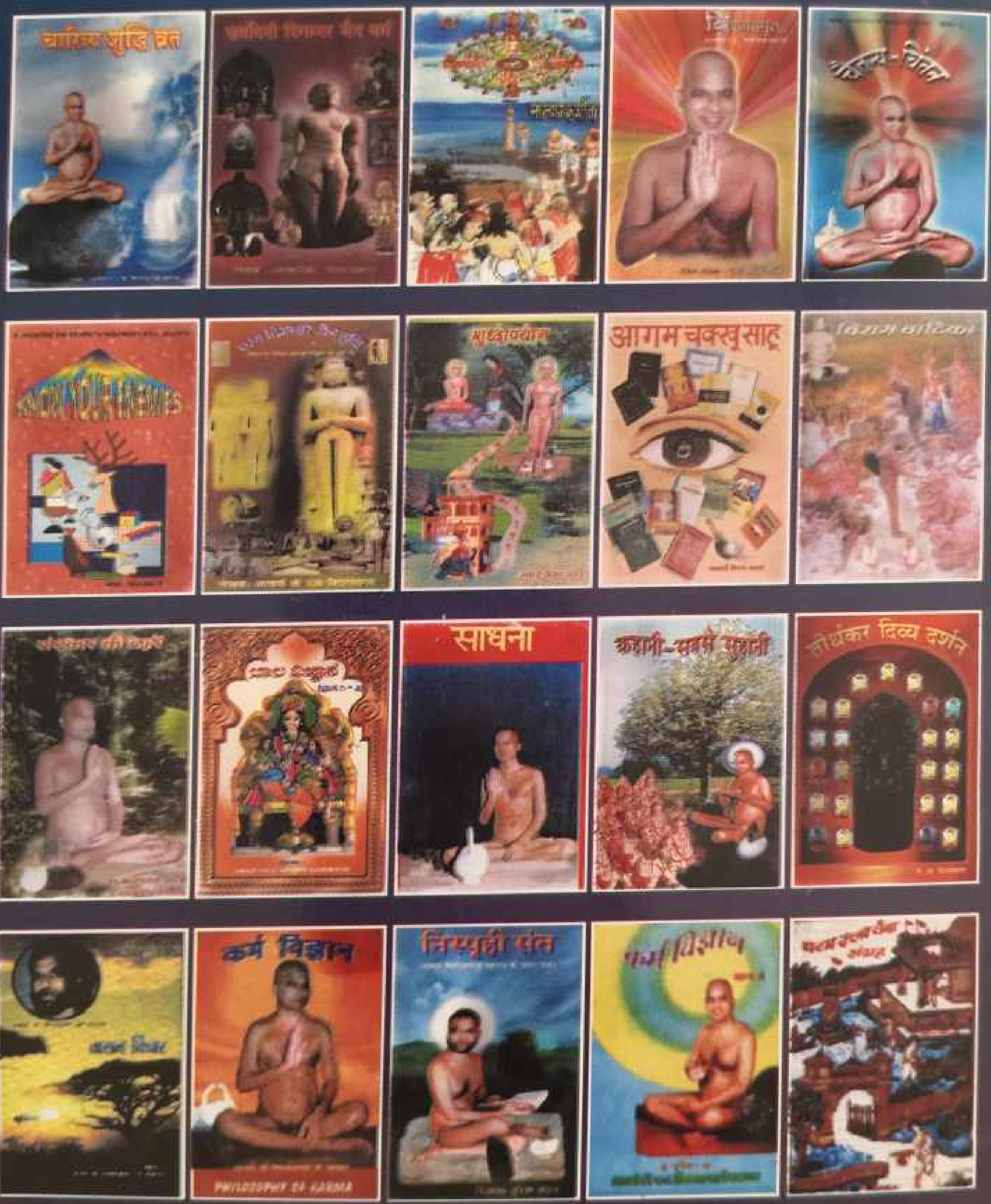


**प्राप्ति स्थान**

**श्री सम्यग्ज्ञान दिगंबर जैन विराग विद्यापीठ**

**बतासा बाजार, भिण्ड (म.प्र.)**